पद्य-प्रमोद

संग्रहकर्त्ता

जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०

पद्य-प्रमोद

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर इस समय तक के तीस सुप्रसिद्ध हिन्दी कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह]

संग्रहकर्त्ता

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा, 'रसिकेश' एम० ए० विशारद,

हिन्दी-अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

बनारस सिटी

प्रथम संस्करण १९३३ मूल्य १।)
११०० जिल्ददार १॥)

निवेदन

इधर अनेक वर्षों से हिन्दी साहित्य के अध्यापन का मुझे जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसके सम्बन्ध से हिन्दी गद्य और पद्य के बीसियों संग्रह मेरे देखने में आये और मुझे उनके गुण-दोषों का विचार करने का अवसर मिला। यद्यपि उनमें कई संग्रह मुझे विद्यार्थियों के लिए बहुत कुछ उपयोगी और उत्कृष्ट जान पड़े, परन्तु फिर भी उनमें से अधिकांश के सम्बन्ध में मेरा अनुभव यही है कि वे विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का पूरा पूरा ध्यान रखे बिना ही तैयार किये गये हैं। यदि किसी में कवियों का चुनाव ठीक नहीं हुआ है, तो किसी में संगृहीत कविताओं का चुनाव त्रुटिपूर्ण रह गया है। ऐसे भी कई संग्रह मेरे देखने में आये जिनमें की कुछ कविताएँ तो अपेक्षाकृत छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त थीं और कुछ कविताएँ अधिक ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के काम की थीं। पाठों की अशुद्धि तथा छापे आदि की भूलों का, जो विद्यार्थियों के लिए बहुत ही हानिकारिणी होती हैं, कुछ पूछना ही नहीं है। बाजार में आजकल जो अनेक संग्रह देखने में आते हैं, उनमें से अधिकांश संग्रहों में इसी प्रकार के कुछ न कुछ दोष अवश्य होते हैं। विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को इस प्रकार के दोषों का प्रायः कटु अनुभव हुआ करता है और उन्हें अच्छे तथा उपयुक्त संग्रहों की प्रायः आवश्यकता प्रतीत हुआ करती है।

मेरे कई मित्रों और विद्यार्थियों का आग्रह था कि मैं कविताओं का एक ऐसा संग्रह प्रस्तुत करूँ जो उल्लिखित दोषों तथा त्रुटियों आदि से मुक्त हो। उन्हीं के अनुरोध की रक्षा के लिए मैंने यह "पद्य-प्रमोद" नामक संग्रह प्रस्तुत किया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि यह संग्रह सब प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त है, पर फिर भी इतना कहने का साहस अवश्य कर सकता हूँ कि जहाँ तक हो सका है, मैंने सब प्रकार के दोषों और आक्षेपों से इसे रक्षित रखने का यथा-साध्य प्रयत्न अवश्य किया है। अपने इस प्रयत्न की सफलता या विफलता का निर्णय करने का अधिकारी मैं नहीं हूँ, बल्कि हाई स्कूलों और कालेजों के वे अनुभवी अध्यापक हैं जिन्हें सदा ऐसे संग्रहों से काम पड़ता रहता है। मैं जो कुछ कर सकता था, वह मैंने करके उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है; और अब इसका आदर अथवा निरादर विद्वान् अध्यापकों तथा निष्पक्ष आलोचकों की रुचि पर निर्भर है। तो भी जिन अनेक आवश्यकताओं का ध्यान रखकर मैंने यह संग्रह तैयार किया है और इसकी तैयारी में मुझे जिस सतर्कता से काम लेना पड़ा है, उसे देखते हुए मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि शिक्षा-क्रम में अवश्य ही इसका उचित और उपयुक्त आदर होगा।

औरंगाबाद,
काशी।

निवेदक
जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा
'रसिकेश'।

विषय-सूची

पृष्ठ

१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(वि० सं० १९०७–१९४२)

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्र शुक्ल ७ सं० १९०७ वि० को एक बहुत प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न अग्रवाल वैश्य कुल में हुआ था। इनके पिता बाबू गोपालचन्द्र भी अच्छे कवि थे। भारतेन्दु के माता-पिता का देहान्त इनके शैशव-काल में ही हो गया था, अतः इनकी शिक्षा भली भाँति नहीं हो सकी थी। तो भी इनकी बुद्धि बहुत तीव्र थी। इनके द्वारा लिखित, अनुवादित, सम्पादित तथा संगृहीत ग्रन्थों की संख्या १७५ के लगभग है। ये व्रज भाषा तथा खड़ी बोली दोनों में कविता करते थे। ये उच्च श्रेणी के कवि और गद्य लेखक थे। इन्हें आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त है। इनमें साहित्य-प्रेम के साथ-साथ स्वदेश-प्रेम भी यथेष्ट था। इनके विचार संकुचित ढङ्ग के नहीं थे, वरञ्च उदार थे। इनका देहान्त केवल ३५ वर्ष की अवस्था में सं० १९४२ (सन् १८८५ ई०) में हुआ था।

इनके मुख्य ग्रन्थों के नाम ये हैं—

नाटक—१ सत्य हरिश्चन्द्र; २ मुद्राराक्षस; ३ अंधेर नगरी; ४ चंद्रावली; ५ भारत-दुर्दशा; ६ भारत जननी; ७ नीलदेवी, आदि।

काव्य—१ प्रेम-माधुरी; प्रेम-फुलवारी आदि।

गंगा-वर्णन

नव-उज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन त्रिविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरिपद-नख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस॥
शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥
सगर-सुवन सत सहस परस जल मात्र उधारण।
अगिनित धारा रूप धारि सागर सञ्चारण॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घण्टा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥

मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
बेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुन्दरी नहात बारि कर-जुगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत।
बारिधि नाते ससि कलङ्क मनु कमल मिटावत॥
सुन्दरि सखि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमलबेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गङ्गा छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥

यमुना-वर्णन

(१)

तरनि-तनूजा-तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन-हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप-बारन तीर कों सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

(२)

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमँगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरनि निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

(३)

कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तिय-गन-वदन-कमल की झलकत झाँईं।
कै ब्रज हरिपद-परम-हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लक्ष्मी-भौन एहि करि सतधा निजजल धरत॥

(४)

तिन पै जेहि छिन चन्द-ज्योति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुर-मय सबै तवै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावति देखि सुँदर सो सोभा॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छवि इकसी नभ तीर की॥

(५)

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसत ता प्रतिबिम्ब लखात है॥

(६)

कबहुँ होत सतचन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलैं।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलैं॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रज-रमनी जल आवती॥

(७)

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक-बिधि उठि बैठत कसरत करत॥

(८)

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त कहूँ जल-कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ वसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पंछी करत।
जलपान न्हान कर सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत॥

(९)

कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्ज्वल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये।
रत्न-रासि करि चूर कूल में मनु बगराये॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर में, व्रज-निवास लखि हिय हरसि॥

प्रभाती

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले ।
मन्द परे रिपुगन तारा सम जन-भय-तम-उनमूले ॥
बसे चोर लम्पट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो ।
मागध बन्दी सूत चिरैयन मिलि कल-रोर मचायो ॥
तुव जस सीतल पौन परसि चटकीं गुलाब की कलियाँ ।
अति सुख पाइ असीस देत कोइ करि अँगुरिन चट अलियाँ ॥
भये धरम में थित सब द्विजजन प्रजा काज निज लागे ।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मन्द जन-चक्रवाक अनुरागे ॥
अरघ सरिस उपहार लिये नृप ठाढ़े तिन कहँ तोखौ ॥
न्याय कृपा सौं ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ ।

श्मशान

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि कै नर-नारी ।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी ॥
अन्धकार-बस गिरत काक अरु चील करत रव ।
गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावईं ।
सँग दादुर झींगुर रुदनधुनि, मिलि सुर तुमुल मचावईं ॥

२

प्रतापनारायण मिश्र

(वि० सं० १९१३–१९५१)

पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सं० १९१३ वि० में हुआ था। ये कानपुर के निवासी थे और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्हें संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं और १२ पुस्तकों का अनुवाद किया है। इनके गद्य-पद्यात्मक लेख हास्य-रसपूर्ण, व्यंग्यात्मक और शिक्षाप्रद होते थे। इनपर देश-भक्ति का रंग खूब चढ़ा था। ये बहुत बड़े हास्यप्रिय थे। इनका देहान्त सं० १९५१ वि० में हुआ था।

प्रार्थना

शरणागत-पाल कृपाल प्रभो ! हमको इक आस तुम्हारी है ।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नहिं दीनन को हितकारी है ॥
सुधि लेत सदा सब जीवन की अति ही करुना उर धारी है ।
प्रतिपाल करै बिन ही बदले अस कौन पिता महतारी है ।
जब नाथ ! दया करि देखत हो छुटि जात बिथा संसारी है ॥
बिसराय तुम्हैं सुख चाहत जो अस कौन नदान अनारी है ।
परवाहि तिन्हें नहिं स्वर्गहु की जिनको तब कीरति प्यारी है ।
धनि है धनि है सुखदायक जो तव प्रेम-सुधा अधिकारी है ॥
सब भाँति समर्थ सहायक हो तव आश्रित बुद्धि हमारी है ।
"परतापनरायण" तो तुम्हरे पद-पंकज पै बलिहारी है ॥
पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुमही इक नाथ हमारे हो ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुमही रखवारे हो ।
सब भाँति सदा सुखदायक हो दुख दुर्गुन नासनहारे हो ।
प्रतिपाल करो सिगरे जग को अतिसै करुना उर धारे हो ॥
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो बिस्तारे हो ।
भुलिहैं हमहीं तुमको तुम तो हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो ॥
महराज ! महा महिमा तुम्हरी समुझैं बिरले बुधिवारे हो ।
शुभ शान्तिनिकेतन प्रेमनिधे ! मन-मन्दिर के उजियारे हो ॥

यहि जीवन के तुम जीवन हौ इन प्रानन के तुम प्यारे हौ।
तुम सों प्रभु पाय "प्रतापहरी" किहि के अब और सहारे हौ॥

भजन

साधो मनुवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना॥
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि माना।
फिकिरि तहाँ की तनिक नहीं है अन्त समय जहँ जाना॥
मुख तें धरम धरम गोहरावत करम करत मन-माना।
जो साहब घट घट की जानै तेहितें करत बहाना॥
तेहितें पूछत मारग घर को आपहि जौन भुलाना।
'हियाँ कहाँ सज्जन कर बासा' हाय न इतनौ जाना॥
यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना।
जो "परताप" सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना॥

जागो भाई जागो रात अब थोरी।
काला-चोर नहिं करन चहत है जीवन-धन की चोरी॥
औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मींजि सिर फोरी।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी॥

जो कछु बीती वीत चुकी सो चिन्ता तें मुख मोरी।
आगे जामें बनै सो कीजै करि तन मन इक ठोरी।
कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी।
अपने करम आपने संगी और भावना भोरी॥
सत्य सहायक स्वामी सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी।
नाहिं तु फिर "परतापहरी" कोउ बात न पूछहि तोरी॥

हिन्दी की हिमायत

चहहु जु साँचौ निज कल्यान।
तौ सब मिलि भारत-संतान॥
जपौ निरंतर एक जबान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥
तबहिं सुधरिहैं जनम निदान।
तबहिं भलो करिहैं भगवान॥
जब रहिहैं निसि-दिन यह ध्यान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥२।

ॐ

३

श्रीधर पाठक

(वि० सं० १९१६–१९८५)

पं० श्रीधर पाठक का जन्म सं० १९१६ वि० में आगरा जिले के जोंधरी ग्राम में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। ये एन्ट्रेन्स परीक्षा पास करके सरकारी नौकरी करने लग गये। फिर पेन्शन लेकर प्रयाग में रहने लगे थे। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के परम प्रेमी थे। इनकी कविता में सृष्टि-सौन्दर्य का वर्णन अति मनोहर है। ये स्वयं बड़े मिलनसार, सहृदय और विनोद-प्रिय थे। इन्होंने व्रज भाषा और खड़ीबोली दोनों में सुन्दर कविता की है और गोल्डस्मिथ की तीन कविताओं का हिन्दी में बहुत ही सुन्दर पद्यानुवाद किया है। इनके रचे हुए लगभग १३-१४ ग्रन्थ हैं। ये लखनऊ में पाँचवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाये गये थे। इनकी बनाई हुई भारत-प्रशंसा की बहुत-सी कविताएँ हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ एकान्तवासी योगी; २ ऊजड़ ग्राम; ३ श्रान्त पथिक; ४ जगत-सचाईसार; ५ काश्मीर-सुषमा; ६ मनोविनोद; ७ देहरादून; ८ गोपिका-गीत; ९ भारत-गीत।

हिमालय

(१)

उत्तर दिसि नगराज अटल छवि सहित विराजत,
लसत स्वेत सिर मुकुट, झलक हिम सोभा भ्राजत।
बदन देस सविसेष, कनक आभा आभासत,
अधोभाग की स्याम बरन छवि हृदय हुलासत॥

(२)

स्वेत पीत सँग स्याम धार अनुगत सम अन्तर,
सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग, प्रतिभास निरन्तर।
बिलसत सो तिहुँ काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम,
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुण्ड्र सम॥

(३)

उज्ज्वल ऊँचे शिखर दूर देसन लौं चमकत,
परत भानु नव किरन प्रात सुवरन सम दमकत।
लता पुहुप बनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत,
हरी भरी डहडही बृच्छ-माला मन भावत॥

(४)

कोकिल कीर कदम्ब, अम्ब चढ़ि गान सुनावत,
स्यामा चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत।

कहुँ हारीत कपोत कहूँ मैना लखि परियत,
कहुँ कहुँ खेचर-वर चकोर के दरसन करियत ॥

(५)

देवदारु की डार कहूँ लंगूर हिलावत,
कहुँ मर्कट को कटक वेग सों तरु तरु धावत।
विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत,
अलबेले अलिवृन्द कलिन के ढिंग ढिंग झौंरत ॥

(६)

झरना जहँ तहँ झरत करत कल छर छर जल-रव,
पियत जीभ सों अम्बुज अमृत उपमा हिम सम्भव।
पवन सीत अति सुखद, बुझावत बहु विधि तापा,
बादर दरसत, परसत, बरसत आपहि आपा ॥

(७)

गंगा गोमुख स्रवत, कहै को सोभा ताकी,
बरनै जन्मस्थली, वह कि अथवा जमुना की।
सतलज, व्यास, चिनाब प्रभृति पंजाब पंच-जल,
सरजू आदि अनेकन नदियन को निसरन-थल ॥

(८)

पृष्ठ भाग रमनीक, रुचिर राजत रावन-ह्रद,
ग्रहन करत निज देह, सिन्धु अरु ब्रह्मपुत्र नद।

हरिद्वार केदार बदरिकाश्रम की सोभा,
लखि ऐसो को मनुज जासु मन कबहुँ न लोभा?

(९)

पुनि देखिय कसमीर देस नैपाल तराई,
सिकम और भूटान राज्य आसाम लगाई।
दच्छिन भुज अफगान राज मस्तक सों भेंटत,
बाम बाहु सों बरमा के कच-भार समेटत॥

(१०)

ज्यों समर्थ बलवान सुभावहिं सों उदार मन,
देत अभय बरदान मानयुत निज आश्रितगन।
आर्यावर्त्त पुनीत ललकि हिय भरि आलिंगत,
गङ्गा जमुना अश्रु प्रेम प्रगटत हृदयंगत॥

(११)

रूरे रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत,
रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत।
अगनित पर्वत खण्ड चहूँ दिसि देत दिखाई,
सिर परसत आकास, चरन पाताल छुआई॥

(१२)

सोहत सुन्दर खेत पाँति तर ऊपर छाई,
मानहुँ विधि पट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई।

गहरे गहरे गर्त खडु दीरघ गहराई,
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देय सुनाई॥

(१३)

तहाँ निपट निश्शङ्क, वन्य पशु सुख सौं विचरत,
करत केलि-कल्लोल, मुदित आनन्दित विहरत।
कहुँ ईंधन कौ ढेर सिद्ध-आवास जनावत,
कहूँ समाधिस्थित जोगी की गुहा सुहावत॥

(१४)

विविध विलच्छन दृश्य, सृष्टि सुखमा सुख-मण्डल,
नन्दनवन अनुरूप भूमि अभिनय रङ्गस्थल।
प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय,
'श्रीधर' दृग छकि रहत अटल छवि निरखि हिमालय॥

काश्मीर-वर्णन

(१)

धनि धनि श्री काश्मीर-धरनि मन-हरनि सुहावनि ।
धनि कश्यप-जस-धुजा, विश्व-मोहिनि मन-भावनि ॥
धन्य आर्य-कुल धर्म-परम प्राचीन पीठ-थल ।
धन्य सारदा-सवनि, अवनि, त्रैलोक्य-पुन्य-फल ॥

(२)

धन्य पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल-छवि ।
स्वर्ग-सहोदरि धरनि, वरनि हारे कोविद कवि ॥
प्रकृति जहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति ।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति ॥

(३)

विमल अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति ।
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति ॥
सजति सजावति सरसति हरसति दरसति प्यारी ।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तर-सारी ॥

(४)

विहरति विविध-विलास-भरी जोवन के मद-सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि ठनि ॥

मधुर मंजु छवि-पुंज-छटा छिरकति वनकुंजन।
चितवति रिझवति हँसति डसति मुसक्याति हरति मन॥

(५)

यहँ सुरूप सिंगार रूप धरि-धरि बहु भाँतिन।
सर, सरिता, गिरि, शिखर, गगन, गह्वर, तरुवर, तृन॥
पूरन करिबे काज चाहना अपने मन की।
किंकरता करि रह्यौ प्रकृति-पंकज चरनन की॥

(६)

चहुँ दिसि हिमगिरि-सिखर,हीर-मनि मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्र-हार जनु॥
फल फूलन छवि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की॥

(७)

तुहिन-सिखर सरिता सर विपिनन की मिलि सो छवि।
छई मण्डलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फवि॥
मानहु मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली।
बाँधी विधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली॥

(८)

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुन्दर?
को सोभा को भौन रूप को कौन समुन्दर?

का को उपमा उचित दैन दोउन में काकी ?
या को सुरपुर की अथवा सुरपुर कों याकी ?

(९)

या को उपमा या ही की मोहि देत सुहावै ।
या सम दूजो ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै ॥
यही स्वर्ग सुरलोक मही सुर-कानन सुन्दर ।
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर ॥

(१०)

सो श्रीधर-दृग बसी प्रेम-अम्बुद-रस-दैनी ।
पुन्य अवनि सुख-सवनि, अलौकिक सोभा-स्रैनी ॥
पै सु यथारथ महिमा नहिं मोहिं शक्ति बखानन ।
सहसा नहिं कहि सकहिं रुकहिं सहसन सहसानन ॥

(११)

कवि-गन कौं कल्पना-कल्पतरु काम-धेनु सी ।
मुनियन कौं तप-धाम, ब्रह्म आनन्द-ऐनु सी ॥
रसिकन कौं रस-थान, प्रान सर्वस जीवन-धन ।
प्रकृति-प्रेमिनी कौं सुकेलि-क्रीड़ा-कलोल-बन ॥

४

नाथूराम 'शंकर' शर्म्मा

(वि० सं० १९१६–१९८८)

पं० नाथूराम शर्म्मा का जन्म सं० १९१६ वि० में हरदुआगंज, जिला अलीगढ़ में हुआ था। ये जाति के गौड़ ब्राह्मण थे। ये १२–१३ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने लगे थे और खड़ी बोली के एक श्रेष्ठ कवि थे। कई संस्थाओं से इन्हें कविराज, भारत-प्रज्ञेन्दु, कविता-कामिनी-कान्त आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। ये ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता करने में कुशल थे। ये बड़े हसमुख, मिलनसार, स्पष्टवादी और विनोद-प्रिय थे।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ शंकर-सरोज; २ अनुराग-रत्न; ३ गर्भरण्डारहस्य; ४ वायस-विजय।

निदाघ-निदर्शन

(१)

बीते दिन बसन्त ऋतु भागी।
गरमी उग्र कोप कर जागी॥
ऊपर भानु प्रचण्ड प्रतापी।
भू पर भबके पावक पापी॥
आतप वात मिले रस—रूखे।
झाबर झील सरोवर सूखे॥
जिन पूरी नदियों में जल है।
उनमें भी काँदा दलदल है॥

(२)

अवनीतल में तीत नहीं है।
हिम-गिरि पै भी शीत नहीं है॥
पूरा सुमन-विकास नहीं है।
और लहलही घास नहीं है॥
गरम-गरम आँधी आती है।
भूभल बरसाती जाती है॥
झाँखर झाड़ रगड़ खाते हैं।
आग लगे बन जल जाते हैं॥

(३)

लपकें लट लूँ लहराती हैं।
जल-तरंग सी थहराती हैं॥
तृषित कुरंग वहाँ आते है।
पर न बूँद पय की पाते हैं॥
सूख गई सुखदा हरियाली।
हा! रस-हीन रसा कर डाली॥
कुतल जवासों के न जले हैं।
फूल-फूलकर आक फले हैं॥

(४)

हरित बेलि, पौधे मन भाये।
बैंगन, काशीफल, फल पाये॥
खरबूजे, तरबूजे, ककड़ी।
सबने टाँग पित्त की पकड़ी॥
इमली के बिधु-बाल कटारे।
आम अपक्क लुकाट गुदारे॥
सरस फालसे श्यामल दाने।
ये सबने सुख-साधन जाने॥

(५)

व्यञ्जन, ओदन आदि हमारे।
पेट न भर सकते हैं सारे॥

गरम रहें तो कम खाते हैं।
रख दें तो बस घुस जाते हैं॥
चन्दन में घनसार घिसाया।
पाटल-पुष्प-पराग पिसाया॥
ऐसा कर परिधान बसाये।
वे भी वसन विदाहक पाये॥

(६)

दीपक-ज्योति जहाँ जगती है।
चमक चञ्चला-सी लगती है॥
व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं।
जाकर क्या कुछ कर पाते हैं॥
ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में।
घूमे घोर ताप घर-घर में॥
रुद्र-रोप दिनकर के मारे।
तड़प रहे नारी नर सारे॥

(७)

भीतर वाहर से जलते हैं।
अकुलाकर पंखे झलते हैं॥
स्वेद वहे, तन डूव रहा है।
घवराते, मन ऊव रहा है॥

काल पड़ा नगरों में जल का।
मोल मिले उष्णोदक नल का॥
वह भी कुछ घंटों बिकता है।
आगे तनिक नहीं टिकता है॥

(८)

पावक-बाण दिवाकर मारे।
हा! बड़वानल फूँक पजारे॥
खौल उठे नद सागर सारे।
जलते हैं जल-जन्तु बिचारे॥
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से।
चन्द्र न शीतल करे सुधा से॥
धूप हुताशन से क्या कम है।
हा! चाँदनी रात गरम है॥

(९)

जंगल गरमी से गरमाया।
मिलती कहीं न शीतल छाया॥
घमस घुसी तरु-पुञ्जों में भी।
निकले भबक निकुञ्जों में भी॥
सुन्दर वन, आराम घने हैं।
परम रम्य प्रासाद बने हैं॥

सब में उष्ण ब्यार बहती है।
घाम घमस घेरे रहती है॥

(१०)

फलने को तरु फूल रहे हैं।
पकने को फल भूल रहे हैं॥
पर, जब घोर-घर्म पाते हैं।
सबके सब मुरझा जाते हैं॥
हरि मृग प्यासे पास खड़े हैं।
भूले नकुल भुजंग पड़े हैं॥
कंक, श्वान, कबूतर, तोते।
निरखे एक पेड़ पर सोते॥

(११)

विधि ! यदि वापी, कूप न होते।
तो क्या हम सब जीवन खोते ?
पर पानी उन में भी कम है।
अब क्या करें नाक में दम है॥
कभी कभी घन रुप जाता है।
वृषारूढ़ रवि छुप जाता है॥
जो जल बादल से झड़ता है।
तो कुछ काल चैन पड़ता है॥

(१२)

पान करें पाचक जल-जीरा।
चखते रहें फुलाय कतीरा॥
बरफ़ गलाय छने ठंढाई।
औषधि पर न प्यास की पाई॥
बँगलों में परदे खस के हैं।
बार-बार रस के चसके हैं॥
सुखिया सुख-साधन पाते हैं।
इतने पर भी अकुलाते हैं॥

(१३)

खलियानों पर दाँय चलाना।
फिर अनाज, भूसा बरसाना॥
पूरा तप किसान करते हैं।
तो भी उदर नहीं भरते हैं॥
हलवाई, भुरजी, भटियारे।
सोनी भगत, लुहार बिचारे॥
नेक न गरमी से डरते हैं।
अपने तन फूँका करते हैं॥

(१४)

हा ! बायलर की आग पजारे।
झपटे झाय लपक लू मारे॥

उड़ती भूभल फाँक रहे हैं।
जलते इन्जन हाँक रहे हैं॥
भानु ताप उपजावे जिस को।
वह ज्वाला न जलावे किस को॥
व्याकुल जीव-समूह निहारे।
हाय! हुतासन से सब हारे॥

(१५)

जेठ जगत को जीत रहा है।
काल विदाहक बीत रहा है॥
भबक भबूके मार रहे हैं।
हाय हाय हम हार रहे हैं॥
पावक-बाण प्रचण्ड चले हैं।
पक्ष-राज भी बहुत जले हैं॥
बादल को अवलोक रहे हैं।
गरमी की गति रोक रहे हैं॥

(१६)

जब दिन पावस के आवेंगे।
वारि वलाहक बरसावेंगे॥
तब गरमी नरमी पावेगी।
कुछ तो ठंढक पड़ जावेगी॥

भाट बने कालानल रवि का।
ऐसा साहस है किस कवि का॥
'शंकर' कविता हुई न पूरी।
जलती भुनती रही अधूरी॥

५

महावीरप्रसाद द्विवेदी

(वि० सं० १९२१—वर्त्तमान)

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सं० १९२१ वि० में रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल से ही कविता की ओर इनकी रुचि है। नौकरी की अवस्था में भी ये हिन्दी की सेवा करते थे। नौकरी

से अलग होने पर तो इन्होंने अपना सारा समय हिन्दी की सेवा में ही लगाया है। ये हिन्दी-साहित्य के आचार्य और महारथी हैं। इनकी गद्य लिखने की शैली निराली है। ऐसा अच्छा गद्य लिखनेवाले वर्तमान हिन्दी-लेखकों में बहुत कम हैं। ये लगभग बीस साल तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे हैं। इस बीच में इन्होंने हिन्दी में एक नया जीवन सा भर दिया है। द्विवेदीजी को अँग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं का अच्छा अभ्यास है। इन्होंने कई अँगरेजी, संस्कृत और बँगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। ये समालोचना करने में बड़े निष्पक्ष, कुशल और निर्भीक हैं। अभी हाल में काशी, प्रयाग आदि अनेक स्थानों में इनकी ७० वीं वर्षगाँठ पर बड़े बड़े उत्सव हुए हैं। इनके लिखित, सम्पादित तथा अनुवादित ग्रन्थों की संख्या लगभग ३० है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्य, दर्शन आदि कोई विषय इनसे छूटा नहीं है।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ हिन्दी महाभारत (बँगला से अनुवादित); २ रघुवंश (हिन्दी गद्यानुवाद); ३ कुमारसम्भव (हिन्दी गद्यानुवाद); ४ किरातार्जुनीय (हिन्दी गद्यानुवाद); ५ मेघदूत (हिन्दी गद्यानुवाद); ६ नाट्यशास्त्र; ७ कालिदास की निरंकुशता (समालोचना); ८ सम्पत्तिशास्त्र; ९ जलचिकित्सा; १० स्वाधीनता (अँगरेजी Liberty का अनुवाद); ११ बेकन-विचार-रत्नावली; १२ नैषध-चरित-चर्चा (समालोचना); १३ हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति; १४ काव्य-मंजूषा (द्विवेदीजी की कविताओं का संग्रह); १५ सुमन (कविताओं का संग्रह)।

द्रौपदी-वचन-वाणावली

(१)

धर्मराज से दुर्योधन की इस प्रकार सुन सिद्धि विशाल,
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढ़ानेवाली तब वह गिरा रसाल,
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्ति-युक्त तत्काल॥

(२)

आप सदृश पण्डित के सम्मुख निपट नीच नारी की बात,
तिरस्कार-कारक सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात।
वस्त्र-हरण आदिक अति दुःसह दुःख तथापि आज इस काल,
बार-बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल॥

(३)

तेरे ही वंशज महीप-वर सुरनायक-सम तेज-निधान,
जो धरणी अखंड इस दिन तक धारण किये रहे बलवान।
हा हा वही मही निज कर से तूने ऐसी फेंकी आज,
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त गजराज॥

(४)

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय पराभूत हो मरते हैं।
उनमें कर प्रवेश फिर उनको शठ यों मार गिराते हैं,
कवच-हीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं॥

(५)

हे साधन-सम्पन्न नराधिप, हे क्षत्रिय-कुल-अभिमानी,
कुलजा गुण-गरिमा-वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड़कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा,
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा?

(६)

हे महीप मानी नर जिसको महानिन्द्य बतलाते हैं,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं नहीं परन्तु लजाते हैं।
कोपानल क्यों नहीं आप को भस्मी-भूत बनाता है,
सूखे शमी वृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है॥

(७)

यथासमय जो कोप अनुग्रह को प्रयोग में लाते हैं,
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते हैं।
क्रोध-हीन नर की रिपुता से नहीं मनुज भय खाते हैं,
तथा मित्रता से वे उसको आदर भी न दिखाते हैं॥

(८)

चन्दन-चर्चित-गात भीम जो रथ हो पर चलता था तत्र,
धूलि-धूसरित वही विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र।
क्या इस पर भी पीड़ित होते नहीं आप पाकर सन्ताप?
सत्य-शील बनकर अनर्थ यह हाय कर रहे हैं क्या आप॥

(९)

देवराज-सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिए वही अब हा हा तरु के वल्कल लाता है,
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रोध न आता है?

(१०)

यहाँ महीतल पर सोने से मृदुल गात हो गया कठोर,
वन-गज तुल्य देख पड़ते हैं, जटा लटकती हैं सब ओर।
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश,
क्या तू शेष नहीं कर सकता अपना अब भी धैर्य विशेष॥

(११)

हे नृप तेरी मति-गति मेरी नहीं समझ में आती है,
चित्त-वृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है।
तेरी प्रबल आपदाओं का चिन्तन करती हूँ मैं जब,
मनस्ताप से फट जाता है यह मेरा हृदयस्थल तब॥

(१२)

मूल्यवान मञ्जुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मङ्गल-गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही आज तू कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है,
श्रुति-कर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा निद्रा खोता है॥

(१३)

द्विज-भोजन से बचा हुआ शुचि षटरस अन्न पुष्टिकारी,
खाकर जिसने इस शरीर को पहले किया मनोहारी।
भूप वही तू आज उदर निज बन-फल खाकर भरता है,
यश के साथ देह भी अपना हा हा हा! कृश करता है॥

(१४)

रत्न-खचित सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप-मुकुटों के सुमन-रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खण्डित-कुश-युत वन भीतर,
अहह नग्न फिरते रहते हैं वे ही तेरे पद मृदुतर॥

(१५)

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
हृदय समूल उखड़ जाता है पाती हूँ मैं व्यथा विशाल।
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर सकते न शत्रु-कुल-केतु,
उनकी ईश्वर-दत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु॥

(१६)

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये फिर इस बार,
क्षमा छोड़िये जिसमें रिपु का होवे नृप सत्वर संहार।
षड्रिपु-नाशक सहन-शीलता निस्पृह मुनियों के ही योग्य,
भूपालों के लिए सर्वदा वह सब भाँति अयोग्य, अयोग्य॥

(१७)

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान,
हे महीप, अरि से पाकर भी यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें शान्तचित धारण किये हुए सन्तोष महान,
तो हा हा हत हुआ निराश्रय मानवान पुरुषों का मान ॥

(१८)

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभ गुण-समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय!
तो यह राज-धर्म का सूचक वीरोचित कोदण्ड विहाय,
यहीं अखण्ड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय ॥

(१९)

कपट कर रहा है रिपु इससे तुझ तेजस्वी को महिपाल,
पालन करना नहीं चाहिये कृत-प्रतिज्ञा-प्रण इस काल।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बलबुद्धि-निकेत,
विविध दोष की हुई सन्धि में दिखलाते हैं युक्ति समेत ॥

(२०)

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आशीश,
शत्रु-नाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश।
जैसे प्रातःकाल सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥

(२१)

भारवि-रूपी कवि-सविता की कविता विद्वज्जन की प्रान,
अति उद्भट अति अगम मनोहर महा अलौकिक अर्थ-निधान।
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञ-कृत यह उसका जघन्य अनुवाद,
अनुशीलन कर हे रसज्ञ जन करिये मेरे क्षमा प्रमाद॥

ॐ

६

अयोध्यासिंह उपाध्याय

(वि० सं० १९२२–वर्तमान)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म आजमगढ़ जिले के निज़ामाबाद कस्बे में सं० १९२२ वि० में हुआ था। ये अगस्त गोत्रीय, शुक्ल यजुर्वेदीय

सनाढ्य ब्राह्मण हैं। ये सं० १९४१ में निजामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियत हुए थे। वहीं साधु बाबा सुमेरसिंह की सङ्गति से इन्हें हिन्दी का अनुराग हुआ। पहले-पहल इन्होंने 'वेनिस का बाँका' और उर्दू 'रिपवान विंकल' का हिन्दी अनुवाद काशी-पत्रिका में प्रकाशित किया। फिर गुलजार दबिस्तॉं का हिन्दी अनुवाद करके 'विनोद-वाटिका' आदि लिखीं। सं० १९४६ में इन्होंने कानूनगोई की परीक्षा पास कर ली और सं० १९४७ में कानूनगो बन गये। वहाँ फिर पद-वृद्धि प्राप्त करते हुए सं० १९८० में इन्होंने पेन्शन ले ली। तब से ये काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य के अवैतनिक अध्यापक हैं।

उपाध्यायजी यद्यपि सनातन-धर्मावलम्बी हैं, पर अन्ध-परम्परा के पक्षपाती नहीं हैं। समाज-सेवा का भाव इनमें पूर्ण-रूप से है।

ये जैसे गद्य लिखने में सिद्धहस्त हैं, वैसे ही कविता में भी प्रवीण हैं। ये सरल से सरल और कठिन से कठिन गद्य-पद्य लिखने में अति निपुण हैं। इन्होंने हिन्दी-काव्य-संसार में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इनका प्रिय-प्रवास काव्य एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। ब्रज भाषा में भी इनकी कविताएँ बड़ी ही सुन्दर हैं। ये दिल्ली के चौदहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाये गये थे।

इनके मुख्य-मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

पद्य—१ प्रिय-प्रवास; २ चोखे चौपदे; ३ चुभते चौपदे; ४ बोल-चाल।

गद्य—१ ठेठ हिन्दी का ठाठ; २ अधखिला फूल; ३ पद्य-प्रसून।
(कविताओं का संग्रह)

हमें नहीं चाहिए

(१)

आप रहे कोरा शरीर के वसन रँगावे।
घर तज करके घरबारी से भी बढ़ जावे॥
इस प्रकार का नहीं चाहिये हमको साधू।
मन तो मूँड न सके मूँड को दौड़ मुड़ावे॥

(२)

मन का मोह न हरे, लार धन पर टपकावे।
मुक्ति बहाने भूल-भुलैयाँ बीच फँसावे।
हमें चाहिए गुरू नहीं ऐसा अविवेकी।
जो न लोक का रखे न तो परलोक बनावे॥

(३)

बूझ न पावे धर्म-मर्म बकवाद मचावे।
सार वस्तु को वचन-चातुरी में उलझावे।
इस प्रकार का नहीं चाहिए हमको पण्डित।
जो गौरव के लिए शास्त्र का गला दबावे॥

(४)

न तो पढ़ा हो न तो कभी कुछ कर्म करावे।
कर सेवाएँ किसी भाँति जीविका चलावे।

कभी चाहिए नहीं पुरोहित हमको ऐसा।
पूरा क्या, जो हित न अधूरा भी कर पावे॥

(५)

सीधे सादे वेद-वचन को खींचे ताने।
अपने मन अनुसार शास्त्र सिद्धान्त बखाने।
हमें चाहिए नहीं कभी ऐसा उपदेशक।
जो न धर्म की अति उदार गति को पहचाने॥

(६)

बके बहुत, थोथी बातें कह, मूँछें टेवे।
निज समाज का रहा सहा गौरव हर लेवे।
इस प्रकार का हमें चाहिए नहीं प्रचारक।
कलह फूट का बीज जाति में जो बो देवे॥

(७)

चाहे सुनियम तोड़ ढोंग रचना मनमाने।
मतलब गाँठा करे समाज-सुधार बहाने।
नहीं चाहिए कभी सुधारक हमको ऐसा।
ठीक-ठीक जो नहीं जाति-नाड़ी-गति जाने॥

(८)

घी मिलने की चाह रखे औ वारि बिलोवे।
जिसकी नीची आँख जाति का गौरव खोवे।

इस प्रकार का नहीं चाहिये हमको नेता।
जो हो रुचि का दास नाम का भूखा होवे॥

(९)

तत तक्र जिसकी आँख समय पर पहुँच न पावे।
थोड़ा सा कुछ करे बहुत सा ढोल बजावे।
देश-हितैषी नहीं चाहिये हमको ऐसा।
मरे नाम के लिए देश के काम न आवे॥

(१०)

निज पद-गौरव साथ सभा को जो न सँभाले।
सभी सुलझती हुई बात को जो उलझाले।
इस प्रकार का नहीं चाहिये हमें सभापति।
जिसे जो चहे वही मोम का नाक बना ले॥

यशोदा-उद्धव-संवाद

(१)

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उन को तो नहीं है बनाती?
ऊधो छाती वदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदय-तल में तो नहीं वेदनायें॥

(२)

मीठे मेवे, मृदुल नवनी और पकान्न नाना।
धीरे प्यारों सहित सुत को कौन होगी खिलाती ?
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था।
हा ! पाता है न अब उस को प्राणप्यारा हमारा ॥

(३)

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उस को माँगने में सदा थी ॥
जैसे लेके सरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन वामा सकेगी ॥

(४)

मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही बिताती।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी ॥
हा ! ऐसे ही अब वदन को देखती कौन होगी ?
ऊधो ! माता-सदृश ममता और की है न होती ॥

(५)

खाने, पीने शयन करने आदि की एक वेला।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था ॥
ऊधो ! ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी।
माता की सी अवनि-तल में है अ-माता न होती ॥

(६)

जो लाती थीं विविध रंग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी॥
हा! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना।
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर मैं देखती हूँ॥

(७)

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था॥
ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दुग्धकारी॥

(८)

प्यारे ऊधो! सुरत करता लाल मेरी कभी है?
क्या होता है न कभी उसको ध्यान बूढ़े पिता का!
रो रो होके विकल अपने वार जो हैं बिताते।
हा! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते॥

(९)

कैसे वृन्दा विपिन विसरा, क्यों लता बेलि भूली?
कैसे जी से उतर सिगरी कुञ्जपुंजें गई हैं?
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
कैसे भूला विकच-तरु सो कालिंदी-कूलवाला॥

(१०)

कुंजों कुंजों प्रति दिन जिन्हें चाव से था चराया ।
जो प्यारी थीं परम ब्रज के लाडले को सदा ही ।
खिन्ना, दीना, विकल वन में आज जो घूमती हैं ।
ऊधो ! कैसे हृदय-धन को हाय वे धेनु भूलीं ॥

भारत-भूतल

जय भव-वन्दित भारत-भूतल ।
शिर पर शोभित कलित क्रीट-सम, विलसित, अचल हिमाचल ।
कण्ठ लग्न मुक्ता-माला इव, मंजुल सुरसरि-धारा ;
प्रति वासर विधौत पग पावन, पूत पयोनिधि द्वारा ।
मणिगण-मण्डित कान्त कलेवर, तरु कोमल दल श्यामल ;
सुधा-भरित नाना फल-संकुल, सफलीकृत वसुधातल ।
मधु-विकास-विकसित बहु सरसिज, शरद-सिता-सित, सुन्दर ;
सुरभित मलय समीर सुसेवित, सुख-विधि मंजुल मन्दर ।
नव-नव उषा राग आरंजित, मनरंजन घन-माली ;
राका रजनी, आयोजन-रत, लोकोत्तर छवि-शाली ।
रुचिर पुरन्दर चाप-विभूषित, तारक-माला सज्जित ;

रविकर निकर कलित, आलोकित, चन्द्र-चारुता-सज्जित।
नन्दन वन-समान-उपवनमय, चन्दन-तरु चय-धारी ;
लोक-ललित लतिका-कर-लालित, ललामता-अधिकारी।
खगकुल-कलरव कान्त कोकिला, आकुल नाद अलंकृत ;
मुग्धकरी कुसुमावलि पूरित, अलि-झङ्कार सुझंकृत।
मन-भावन महान महिमामय, पावन पर परिचायक ;
सुरपुर-सम सम्पन्न दिव्य तम, सप्तपुरी-अधिनायक।
सकल अमंगल-मूल-निकन्दन, भव-जन-मंगलकारी ;
प्रेम-निलय 'हरिऔध' मधुरतम, मानस-सदन-विहारी ॥

प्रभात

प्रकृति वधू ने असित बसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना ॥
उसका नव अनुराग नील नभ-तल पर छाया।
हुई रागमय दिशा निशा ने बदन छिपाया ॥
आरंजित हो उषा सुन्दरी ने सुख माना।
लोहित आभा-वलित वितान अधर में ताना ॥
नियति-करों से छिनी छपाकर की छवि सारी।
उठी धरा पर पड़ी सितासित चादर न्यारी ॥

ओस विन्दु ने द्रवित हृदय को सरस बनाया।
अवनी तल पर विलस-विलस मोती बरसाया॥
खुले कण्ठ कमनीय गिरा ने वीन बजाई।
विहग-वृन्द ने उमग मधुर रागिनी सुनाई॥
शीतल बहा समीर हुईं विकसित कलिकायें।
तरुदल विलसे बनी ललिततम सब लतिकायें॥
सर में खिले सरोज हो गईं सित सरितायें।
सुरभित हुआ दिगन्त चल पड़ीं अलिमालायें॥
हुआ बाल-रवि उदित कनक-निभ किरणें फूटीं।
भरित तिमिर पर परम प्रभामय बनकर टूटीं॥
जगत जगमगा उठा विभा वसुधा में फैली।
खुली अलौकिक ज्योति-पुञ्ज की मंजुल थैली॥
बने दिव्य गिरि-शिखर मुकुट मणि मण्डित पाये।
कनकाभा मिल गये कलित झरने दिखलाये॥
मिले सुनहली कान्ति लसी सुमनावलि सारी।
दमक उठीं वेलियाँ लाभ कर द्युति अति प्यारी॥
स्वर्ण तार से रचे चारुतम चादर द्वारा।
सकल जलाशय लसे बनी उज्ज्वल जल-धारा॥
दिखा-दिखाकर तरल उरोंकी दिव्य उमंगें।
ले-लेकर रवि-बिम्ब खेलने लगीं तरंगें॥

हीरक-कण हरिताभ तृणों पर गया उछाला।
बनी दूब रमणीय पहनकर मुक्ता-माला॥
मिले कान्तिमय किरण लसे बालू के टीले।
सारे रजगण बने रजतकण-से चमकीले॥

जिस जगती को असित कर सकी थी तम-छाया।
रवि-विकास ने विलस उसे बहुरंग बनाया॥
कहीं हुई हरिताभ कहीं आरक्त दिखाई।
कहीं पीत छवि कान्त स्वेत किरणें बन पाई॥

हुआ जागरित लोक रात्रि-गत जड़ता भागी।
बहा कर्म का स्रोत प्रकृति ने निद्रा त्यागी॥
विजित तमोगुण हुआ सतोगुण सितता छाई।
चकवी चावों भरी पास चकवे के आई॥

पहने कञ्जन-कलित क्रीट मुक्तावली माला।
विकच कुसुम का हार, विभाकर-कर का पाला॥
प्राची के कमनीय अंक में लसित दिखाया।
लिये करों में कमल प्रभात विहँसता आया॥

ॐ

७

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०

(वि० सं० १९२३–८९)

बाबू जगन्नाथदास का जन्म बनारस में सं० १९२३ में हुआ था। ये जाति के अग्रवाल वैश्य थे। 'रत्नाकर' जी के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और कविता के प्रेमी थे ; अतः 'रत्नाकर' की भी रुचि आरम्भ में फ़ारसी तथा उर्दू की ओर रही। इन्हों ने एम. ए. तक फ़ारसी का अध्ययन किया, पर कारणवश परीक्षा न दे सके। पीछे इनका अनुराग हिन्दी की ओर हो गया। ब्रज भाषा के ये बहुत बड़े विद्वान् थे और उसके आधुनिक कवियों में सबसे श्रेष्ठ थे। इनकी 'बिहारी-सतसई' पर 'बिहारी-रत्नाकर' नाम की एक बहुत अच्छी टीका है। इन्होंने कई प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन किया है। ये कलकत्ते के बीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाये गये थे। इनका देहान्त गत वर्ष ही हुआ है।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ हिंडोला; २ समालोचनादर्श; ३ साहित्य-रत्नाकर; ४ घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर; ५ हरिश्चन्द्र; ६ गंगावतरण; ७ ऊधव-शतक।

इनका अन्तिम कार्य 'सूर-सागर' का सम्पादन है। यह काम ये तीन-चौथाई ही पूरा कर सके थे। इनका सम्पादित सूर-सागर काशी की नागरीप्रचारिणी सभा छापनेवाली है।

—:o:—

पृथ्वी पर गंगा का आगमन

(१)

सादर सबहिं नवाइ सीस अवनीस भगीरथ।
बढ़े बहुरि अगुवाइ धाइ चढ़ि वायु बेग रथ॥
चली गंगहु संग अंग ओजनि उमगाए।
ज्यौं कल-कीरति रहति सदा सुकृतिहिं पछियाए॥

(२)

पुन्य-पाथ परिपूरि करति पर्वत-पथ पावन।
सब प्रतिबंध नसाइ आइ गिरि-कंध सुहावन॥
कूदी धरि धुनि-धमक घोर ठाढ़ी खाढ़ी मैं।
परी गाज सी गाजि पुहुमि-पातक-पाढ़ी मैं॥

(३)

फलकि फेन उफनाइ आइ राजत जुरि जल पर।
मनहु सुधा-निधि महत सुधा उमहत तरि तल पर॥
फबति फुही की फाब धूम-धारा लौं धावति।
गिरि-कोरनि पर मोर-पंख-तोरन-छवि छावति॥

(४)

जिनके हाड़ पहाड़-खाड़-बिथुरित तिहिं परसत।
सो लहि लहि वर वपुष जाइ सुरपुर सुख सरसत॥
जुरत न तिते बिमान जिते तारति इक संगहि।
निज प्रताप-बल पर पहुँचावति गंग-तरंगहि॥

(५)

देव दनुज गंधर्व जच्छ किन्नर कर जोरे।
निज निज नारिन संग अंग बहु भावनि बोरे॥
भय बिस्मय बिस्वास आस आनँद उर छाए।
दुहुँ कूलनि सुख-मूल स्वच्छ पर परे जमाए॥

(६)

अद्भुत अकथ अनूप गंग-कौतुक कल देखत।
अति अलभ्य यह लाभ ललकि लोचन कौ लेखत॥
स्वस्ति-पाठ कोउ पढ़त कोऊ अस्तुति गुनि गावत।
कोऊ भगीरथ-भव्य-भाग को राग कढ़ावत॥

(७)

कोउ ढिठाइ नियराइ ठाइ पग झुकि जल परसत।
सुधा-स्वाद-सुख वाद वदत रसना रस सरसत॥
ताकी देखादेख शेष सब चाव उचावत।
हिचकिचात ललचात नीर नेरैं चलि आवत॥

(८)

सींचि सीस आचम्य रम्य सुखमा सुभ देखत।
नंदनबन-आनंद-अमित लेखा लघु लेखत॥
कोउ ठमकत गहि ठाम ठठोली करि कोउ ठेलत।
कोउ भाजत छल छाइ धाइ कोउ ताहि पछेलत॥

(९)

कोउ सीतल-जल-छींट छपकि काहू पर छिरकत।
कोउ काहू कौं पकरि पीठि-पाछैं हटि हिरकत॥
कोउ अधार कछु धारि धँसत जानू लगि जल मैं।
हरबराइ पर कढ़त थमत नहिं पूर प्रबल मैं॥

(१०)

जहँ कोउ मंजुल मोड़ तोड़-गति तरल निवारत।
प्रबल-वेग जल फैलि शान्ति-सुखमा विस्तारत॥
तहाँ जूह के जूह जुरत जल-केलि-उमाहे।
बहु विनोद आमोद करत आनँद अवगाहे॥

(११)

कोउ नहात कोउ तिरत कोऊ जल-अन्तर धावत।
रविहिं अर्घ कोउ देत कोऊ हर-हर-धुनि लावत॥
लै बुभकी कोउ भजत सीत-भय-भीत विलोकत।
कोउ परिहास-विलास-हेत ताकौं गहि रोकत॥

(१२)

इहिं विधि सुरसरि सुर-समाज-सेवित सुख-सानी।
भरि बिनोद गिरि-गोद मोद-मण्डित उमगानी॥
कढ़ति सिमिट इक ओर घोर धुनि सौं नभ-पूरित।
ढोंकनि ढेला करति दुरत ढेलनि चकचूरति॥

(१३)

कहूँ तरल कहुँ मन्द कहूँ मध्यम गति धारे।
दरति कूल-द्रुम-मूल ढहावति कठिन करारे॥
द्वै गिरि-स्रेनिनि बीच बढ़ति उमड़ति इमि आवति।
ज्यौं बाहर की जोन्ह बिसद बीथिन मैं धावति॥

(१४)

गिरि-बिहार इमि करति हरति दुख-दुरित-समूहनि।
देत निरासिनि आस त्रास जम-गन के जूहनि॥
कर्न-प्रयाग बिभूपि कर्न-गङ्गा सँग लावति।
उत्तर-कासी कौ महत्त्व लोकोत्तर ठावति॥

(१५)

भरि टिहरी-उत्सङ्ग सङ्ग भृगु-गङ्ग समेटति।
देव-प्रयागहिं पूरि अलकनन्दहिं भरि भेंटति॥
हृषीकेस सौं होति सैल-बन्धहिं बिलगावति।
हरिद्वार मैं आइ छेम छिति-मण्डल छावति॥

(१६)

जेठ मास सित पच्छ स्वच्छ दसमी सुखदाई।
तिहिं दिन गङ्ग उमङ्ग-भरी भूतल पर आई॥
दस-विधि-पातक-हरन-हेत फहरान फरहरा।
तातैं ताकौ पर्‌यो नाम अभिराम दसहरा॥

(१७)

सुर-धुनि आवन-धूम धाम-धामनि मैं धाई।
चहुँ दिसि तैं चलि चपल जुरे बहु लोग लुगाई॥
चारहु बरन पुनीत नीति-नाधे गृह-बासी।
जोगी जंगम परमहंस तापस संन्यासी॥

(१८)

कोउ नहात कोउ दान करत कोउ ध्यान सुधारत।
कोउ स्रद्धा सौं पितर स्राद्ध-तरपन करि तारत॥
कोऊ बेद बेदांत मथत रस सांत उगाहत।
कोउ चढ़्यौ चित-चाव भक्ति के भाव उमाहत॥

(१९)

कवि कोविद कोउ भव्य भाव उर-अंतर खाँचत।
निरखि उतंग तरंग रंग प्रतिभा कौ जाँचत॥
सुमिरि गिरा गननाथ गंग कौं माथ नवावत।
रुचिर काव्य-कल-करन-काज चित चाव चढ़ावत॥

(२०)

सुचि सीतल जल परसि हरषि ही-तल उमगावत ।
हिम-पट-पटतर प्रगटि नैंकु निज जीव जुड़ावत ॥
पै तिहिं गुनद न जानि हीन-उपमा उर आनत ।
आन सीत उपमान परे पाला तर मानत ॥

(२१)

आधि-व्याधि-दुख-दोष-दलन-गुन गुनि अभिलाषत ।
सकुचि सजीवन-मूरि-सरस समता-हित भाषत ॥
पै ताकैं सुख-स्वाद माहिं संसय मन पारत ।
तब गुन-गन-निरधार धनंतर कैं सिर धारत ॥

(२२)

मृदुल-माधुरी-मोद कहन हित हिय हुलसावत ।
कबहुँ सुकृत-बस सुधा-स्वाद चाख्यौ चित आवत ॥
पै सोउ उपमा माहिं नाहिं पावत कहि तोलन ।
अकथ गंग-जल-स्वाद देत अधरहिं नहिं खोलन ॥

(२३)

इमि गोचर-गुन गुनत उमगि उपमा निरधारत ।
समता असम बिचारि सकल सुरसरि पर वारत ॥
रसना रुचिर पखारि धारि प्रतिभा पर पानी ।
तारन-परम प्रभाव चहत बरनन बर बानी ॥

(२४)

चित चलाइ चढ़ि चाय लोक तीनहुँ परिसोधत।
पै न कोउ उपमान ध्यान में आनि प्रबोधत॥
तब सारद-पद-कञ्ज-मञ्जु मधुकर-मन लावत।
सुमति-स्वच्छ-मकरन्द लहत दुख-द्वन्द नसावत॥

(२५)

सुरसरि-सरि-हित बिसरि आन उपमान न आनत।
कहे सुने चित गुने सकल अनुचित सो जानत॥
सुमिरि गङ्ग कहि गङ्ग गङ्ग-सङ्गति अभिलाषत।
भाषि गङ्ग सम गङ्ग रङ्ग कविता को राखत॥

(२६)

सुमुखि-वृन्द सानन्द सुघर तन रतन सजाए।
बिहरत बलित-बिनोद ललित लहरत जल भाए॥
तारनि-सहित अमन्द-चन्द प्रतिबिम्ब मनोहर।
मनु बहु बपु धरि फबत फलक-जुत फटिक-सिला पर॥

(२७)

गोरे गात सुहात स्वच्छ कलधौत छरी से।
तिन मैं चल चख चमचमात सुन्दर सफरी से॥
मनु जग-जीतन-काज साज सब सबल बनावत।
मीनकेतु निज-केतु-मीन सुभ जल बिचरावत॥

(२८)

तैरत बूड़त तिरत चलत चुभकी लै जल मैं।
चमकति चपला मनहु सरद-घन-बिमल-पटल मैं॥
तरल तरङ्गनि-बीच लसति बहुरङ्गनि सारी।
मनहु सुधा-सरि-बाढ़ परी सुरपुर-फुलवारी॥

(२९)

अङ्ग-सङ्ग जलधार धँसत जिनके-मुकताभन।
सो करि धरि वर वपुष जाइ विहरत नन्दनबन॥
जिन मृग के मद परत छूटि घट-तट तें पानी।
तिनकी करत सचोप चन्द्-वाहन अगवानी॥

(३०)

इमि निकसि गङ्ग गिरि-गेह तैं गह्यौ पंथ महि-ओक कौ।
करि हरिद्वार कौं अति सुगम द्वार अगम हरि-लोक कौ॥

८

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' बी. ए. बी. एल.

(सं० १९२५-७१)

राय देवीप्रसादजी का जन्म जबलपुर में सं० १९२५ वि० में हुआ था। ये जाति के कायस्थ थे। बी० ए० और बी० एल० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इन्होंने कानपुर में वकालत प्रारम्भ की और थोड़े ही समय में एक प्रसिद्ध वकील हो गये। धर्म-सम्बन्धी और सार्वजनिक कार्यों में ये सदा सम्मिलित होते थे। ये सङ्गीत-विद्या में भी बहुत कुशल थे। इनकी कविता बहुत ही सरल और स्वाभाविक होती थी। ये केवल ब्रज भाषा में कविता करते थे। ये रसिक-वाटिका नाम की एक मासिक-पत्रिका भी निकालते थे। इनसे काव्य-संसार को बहुत कुछ आशा थी, परन्तु अकस्मात् मृत्यु के कारण वह आशा फलवती न हो सकी। ये प्रसिद्ध वक्ता भी थे। वेदान्त इनका प्रिय विषय था। इनका देहान्त ३० जून सन् १९१५ को हुआ। इनकी मृत्यु की सूचना पाकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने कहा था—"ऐसे देशभक्त, ऐसे उत्तम वक्ता, ऐसे उत्कृष्ट कवि, ऐसे हार्दिक हिन्दीप्रेमी, ऐसे धुरीण धर्मिष्ठ की निधनवार्ता अचानक सुननी पड़ेगी, इसका स्वप्न में भी खयाल न था।" मृत्यु के समय इनकी अवस्था लगभग ४५ वर्ष की थी।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ धाराधर-धावन; २ चन्द्रकला-भानुकुमार नाटक।

इनकी कविताओं के संग्रह का नाम 'पूर्ण संग्रह' है।

गङ्गाजी की शोभा

चामर-सी चन्दन-सी चन्द्रिका-सी चन्द-ऐसी,
चाँदनी चमेली चारु चाँदी-सी सुघर है।
कुन्द-सी, कुमुद सी, कपूर-सी, कपास-ऐसी,
कल्पतरु-कुसुम-सी कीरति-सी बर है।
'पूरन' प्रकास-ऐसी, काँस-ऐसी, हास-ऐसी,
सुख के सुपास-ऐसी सुखमा की घर है।
पाप को जहर-ऐसी कलि को कहर-ऐसी,
सुधा की लहर-ऐसी गङ्गा की लहर है॥

वर्षा-आगमन

(१)

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लग्यो वसुधा लगी सुखमा लहन॥
लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन बृच्छ मंजुल बिपुल॥

(२)

हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसत इन्द्रवधून अवली छटा मानिक-बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चन्द्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली॥

(३)

नील नीरद सुभग सुर-धनु-वलित सोभाधाम।
लसत मनु वनमाल धारे ललित श्रीघनश्याम॥
कूप कुण्ड गभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥

(४)

रटन दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस-भूप को दल सबल।
विजय-दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥

✓ सुदामा-चरित्र

(१)

'पूरन' ये कैसो कृष्ण जू को मीत मेरी बीर,
जाको तन पीरो छीन लागै जिमि सूवरो।
डोलत महीनो बलहीनो लकुटी के बल,
कटि बल खायो कै कढ्यो है कहूँ कूबरो।
निकसीं नसन में मिलत मूँज मैले ताग,
भूख की विथा हू ते अजौं ना दीन ऊबरो।
दूब को अहारी, कैधों धूम को अहारी, कैधों
पौन को अहारी, द्विज काहे ऐसो दूबरो॥

(२)

'पूरन' सुदामा आस धारे धन-सम्पति की,
द्वारिका-पुरी पै जबै श्याम-धाम आयो है।
स्वागत कै सादर मुरारि कुशलात पूँछी,
रानिन समेत मन सेवा में लगायो है।
चावर की पोटली पै कर को बढ़ाय हँसि,
कृष्ण दीनानाथ प्रश्न मित्र को सुनायो है।
भाभी ने हमारी भेंट-काज जो पठायो सखा,
ताको तुम काँख बीच काहे को छिपायो है॥

दो०—लखि सुदाम की प्रीति सुचि हरखाने यदुराय।
सम्पति दई कुबेर की, चावर-कन हरि खाय॥

(३)

सुन्दर विलास मणि-धाम अभिराम दीखे,
धेनु गज वाजि रथ पालकी निहारी मैं।
'पूरन' समाज दरबार कामदार देखे,
संख्या दास-दासिन की नेक न सँवारी मैं।
नहिं सो कुटीर ना तिया है मति-धीर मेरी,
मेरी ना पुरी ये कैसी सुमति बिसारी मैं।
द्वारका पुरी तें चलि मारग भुलानो कहूँ,
जाते आय ठाढ़ो फेरि द्वारका मँझारी मैं॥

(४)

चोर-यो कर्यो माखन चरायो कर्यो गोधन को,
घात तें न ताकी ब्रज-गोपी एक ऊबरी।
'पूरन' जसोदा नन्दजू ते नेह नातो तोरि,
जाय मथुरा में पटरानी करी कूबरी।
मारग-कलेस झेलि ऐसे के निकट जाय,
भरम गँवायो बाम दीनों मतो खूब री।
सम्पति न दीन्हीं हरि लीन्हीं उलटे ही और,
फूँस की मड़ैया औ लुगैया मेरी दूबरी॥

(५)

घोर निरधनता सुदामा घर वास कीन्हों,
दारुन कलेस दै-दै दीन को सतायो है।
सम्मति लै बाम की सिधायो द्विज श्याम पास,
भेंट करि तंदुल अखण्ड धन पायो है।
'पूरन' जू मानों भई द्वारका गया की पुरी,
जाय विप्र जा में मनमानो फल पायो है।
दारिद पिसाच मान आखत निमंत्रन को,
संग जाय तरिगो न फेरि भौन आयो है॥

(६)

आपनो ही धाम है ललाम मणि कञ्चन को,
आपने ही पुर को सबै ये विसतार है।
दासी-दास गौवैं रथ पालकी रतन-बास,
साज ये अनंत कंत जेतो सुखसार है।
'पूरन' सुदामा सों कहत समुझाय बाम,
तुम पर कीन्हीं श्याम करुणा अपार है।
आपनी ही घुरसार, आपनो ही हथसार,
आपनी ही सम्पति को सगरो पसार है॥

७७

६

रामचरित उपाध्याय

(सं० १९२९ वि०—वर्त्तमान)

पं० रामचरित उपाध्याय का जन्म गाजीपुर में सं० १९२९ वि० में हुआ था। ये सरयूपारी ब्राह्मण हैं। इनके पिता पं० रामप्रपन्नजी अच्छे विद्वान् थे। उपाध्यायजी ने अपने पिता और भाई से संस्कृत पढ़ी; फिर महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री के पास रहकर ५-६ वर्ष विद्याध्ययन करते रहे। ये संस्कृत साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। ये शान्त-प्रकृति के पुरुष हैं और स्वतन्त्रता इन्हें अधिक प्रिय है; अतः ये अपने घर पर ही रहकर जमींदारी के काम की देख-रेख करते हैं। इनका गार्हस्थ्य जीवन बहुत ही सादा है। पहले ये होली, कजली, चैनी इत्यादि पुराने ढंग की कविताएँ लिखते थे। बाद में इनकी रुचि खड़ी बोली की कविता की ओर हुई। इनकी कविता भाव-प्रधान तो होती ही है, साथ ही उपदेश-प्रद भी होती है।

इनके (खड़ी बोली के) मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ सूक्तिमुक्तावली; २ देवदूत; ३ रामचरित-चन्द्रिका; ४ रामचरित-चिन्तामणि; ५ देवी द्रौपदी; ६ उपदेश-रत्न-माला; ७ मेघदूत; ८ सत्य-हरिश्चन्द्र; ९ विचित्र-विवाह।

संसार की असारता

(१)

शैल, वन, वारीश विस्तृत भी सदा रहते नहीं ;
सोम, रवि मिट जायँगे, नद भी सदा बहते नहीं ।
जो उपजता है कभी फिर नष्ट भी होता वही ;
सेज पर सोता, चिता पर भी कभी सोता वही ॥

(२)

कुछ समय तक भोग लो तुम सौख्य के सामान को ;
मान को हितकर समझ लो, हानिकर अपमान को ।
किन्तु ऐसा भी समय आ जायगा कुछ शक नहीं ;
जब कि हम होंगे नहीं, तुम भी नहीं, कुछ भी नहीं ॥

(३)

बाल्य में, वार्द्धक्य में अथवा सुयौवन काल में,
नित्य देही जा रहे हैं काल-अहि के गाल में ।
देख कर भी खेल यह ममता तनिक जाती नहीं ;
याद अपनी मृत्यु की हम को कभी आती नहीं ॥

(४)

क्यों मरों की बात को तुम याद कर रोने लगे ?
लाभ कुछ होता नहीं, नाहक दुःखी होने लगे।
कौन ऐसा है हुआ जिसको नहीं मरना पड़ा ?
काल को भी तो कभी निज सामना करना पड़ा।

(५)

नेत्र जब तक हैं खुले तब तक हमारे हैं सभी;
बन्धु, वैरी, मित्र, पुत्र, कलत्र, दासी, दास भी।
किन्तु ये सब अन्त में कुछ काम आवेंगे नहीं;
स्वार्थ में भूले हुए हैं, साथ जावेंगे नहीं।

(६)

दशा दिन पर दिन बदलती, शान्ति हम पाते नहीं;
काल आया है निकट, यह ध्यान में लाते नहीं।
अन्न, तृण खाता मुदित हो पशु यथा बलि के समय,
विषय-रस हम पी रहे हैं, मृत्यु से मानों अभय।

(७)

साथियों में सैंकड़ों परलोकवासी हो गये;
स्वप्न में पाये हुए से रत्न सम वे खो गये।
जो बचे वे भी चले ही जा रहे हैं नित्य ही;
चेत, तो भी तू जगत को जानता है सत्य ही।

(८)

नित्य पौष्टिक वस्तु खाकर पुष्ट करते हो जिसे ;
और चन्दन को लगा कर तुष्ट करते हो जिसे ।
गर्व है जिस देह के सौन्दर्य का उससे कभी ;
करेंगे अतिशय घृणा पत्नी, सुता, सुत भी सभी ।

(९)

ग्राह, ग्रह, अहि से अधिकतर क्रूरता है काल में ;
बाज से भी, शेर से भी वह बढ़ा है चाल में ।
शीश पर सब के खड़ा हो लग रहा है घात में ;
मार लेगा वह अचानक बात की ही बात में ।

(१०)

दिन गया सन्ध्या हुई, सन्ध्या गई तो रात है ;
रात भी जाती रही तो सामने ही प्रात है ।
ऐन्द्रजालिक खेल ये, इनमें न तुम भूले रहो ;
काल धोखा दे रहा है व्यर्थ मत फूले रहो ।

(११)

रूप रुपये मिल गये तो गर्व क्यों करने लगा ?
और की सम्पत्ति को तू देख क्यों जलने लगा ?
धान्य-धन में इन्द्र से भी मूढ़ ! क्या तू बढ़ गया ?
इन्द्र भी रहता नहीं, फिर क्यों नशा यह चढ़ गया ।

(१२)

याद रखना नाश ही उत्पत्ति का परिणाम है ;
प्रात जब होता सदा होती तभी तो शाम है।
वृक्ष जो फलते नहीं तो फल कभी गिरते नहीं ;
देह जो धरते नहीं तो हम कभी मरते नहीं।

(१३)

खेल ही में नीर-निधि को सेतु द्वारा पार कर,
धर्म्म-रक्षा की जिन्होंने राक्षसों को मार कर।
हा ! हमारे राम भी वे चल बसे संसार से ;
शोक ! फिर भी प्रेम करते हम उसी निस्सार से।

कामना

(१)

धाराधर की धार, धराधर को नहलावे ,
धरा शस्य-सम्पन्न, जगत के मन बहलावे।
न हो ईति की भीति, प्रीति की रीति चलित हो ,
दमन नीति हो गलित, न कोई रहे दलित हो ॥
प्रतिहिंसा हिंसा-रहित हो ,
भारत खुल खेले-खिले।
कलि-कलुषित-कला-कलाप में ,
कृतयुग का दर्शन मिले ॥

(२)

कभी क्रान्ति की भ्रान्ति, किसी के हृदय न होवे ,
सोवे सुख से विश्व, स्वत्व को किन्तु न खोवे।
रोवे कोई नहीं, न निज कुल के यश धोवे ,
ढोवे दास्य न देश, मेल-बीजों को बोवे ॥
प्रिय प्रजा-प्रजाधिप नित्य ही ,
दोनों हिल-मिल कर चलें।
हृदि हिन्दी-हिन्दू हिन्द के ,
हरे ! फैल फूलें-फलें ॥

१०

कामताप्रसाद 'गुरु'

(वि० सं० १९३२—वर्त्तमान)

पं० कामताप्रसाद 'गुरु' का जन्म सागर (मध्य प्रदेश) में सं० १९३२ वि० में हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। ये हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, फ़ारसी, बँगला, उड़िया और मराठी के अच्छे ज्ञाता हैं। व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने में ये सिद्ध-हस्त हैं। इनकी कविताएँ प्रसाद गुण-पूर्ण तथा भावमयी होती हैं। हिन्दी व्याकरण में ये प्रमाण माने जाते हैं। 'हिन्दी का व्याकरण' इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। ये "राजस्थान" "सत्य-प्रेम" "सरस्वती" "बालसखा" आदि कई पत्रों का सम्पादन कर चुके हैं। ये गद्य और पद्य दोनों ही बहुत सुन्दर लिखते हैं। आज कल ये मेल नार्मल स्कूल, जबलपुर, में हिन्दी साहित्य और व्याकरण के अध्यापक हैं। इनकी रहन-सहन बहुत सादी है और ये सत्यवादी तथा स्पष्टवक्ता हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

काव्य—१ सत्यप्रेम; २ भौमासुरवध; ३ विनय-पचासा; ४ अत्याचारी।

व्याकरण—१ भाषा वाक्य-पृथक्करण; २ सहज हिन्दी-रचना; ३ हिन्दी व्याकरण।

उपन्यास—१ पार्वती और यशोदा।

नाटक—सुदर्शन।

इनकी कविताओं का संग्रह 'पद्यपुष्पावली' के नाम से छपा है।

सहगमन

छूटने पाया न कङ्कण व्याह का।
आ गया आदेश विक्रम शाह का॥
"शीघ्र ही जयसिंह, जाओ युद्ध पर।
देशहित के हेतु सर्वस त्यागकर॥"
पास पत्नी के गये ठाकुर तभी;
और उसको पत्र दे बोले अभी॥
शीघ्र ही फिर भेंट कर उसको हिये।
हट गये झटपट निकलने के लिये॥
देवकी ने धीर अपना खो दिया।
प्राणपति से झट लिपटकर रो दिया॥
पर अचानक भाव उसका फिर गया।
मोह का पर्दा हृदय से गिर गया॥
प्रेम से उसने सुना पति का कहा।
खेद पति के चित्त का जाता रहा॥
किन्तु आई जब बिछुड़ने की घड़ी।
गाज सी दोनों मनों पर आ पड़ी॥
मोह का संकेत फिर कर अनसुना।
धर्म का कर्तव्य दोनों ने गुना॥

देवकी ने शीघ्र रण-कङ्कण दिया।
बाँध उसको हाथ में पति ने लिया॥
चिह्न दोनों साथ ले उत्साह में।
जा रहे जयसिंह हैं रण-चाह में॥
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही।
किन्तु रण-मैदान में जाती रही॥
युद्ध में तो और ही कुछ ध्यान है।
पूर्ण हिय में देश का अभिमान है॥
प्राण है क्या देश के हित के लिये!
देश खोकर जो जिये तो क्या जिये॥

मग्न हैं जयसिंह रण के चाव में;
ला रहे हैं शत्रु को निज दाव में॥
घाटियाँ मैदान पर्वत खाइयाँ।
सब कहीं हैं सूरमा और दाइयाँ॥
रात दिन है अग्नि-वर्षा हो रही।
रात दिन है पूर्ण लोथों से मही॥
व्योम जल थल सब कहीं है रण मचा।
युद्ध के फल से नहीं कोई बचा॥
एक दिन जयसिंह धावा मार कर।
दल सहित जब जा रहे थे केन्द्र पर॥

एक दाई घायलों के बीच में।
दिख पड़ी सोती रुधिर की कीच में ॥
ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा;
और फिर उसके हृदय पर कर रखा ॥
हो विकल उसको जगाने वे लगे।
मर चुकी थी वह भला अब क्यों जगे ॥
घायलों की वीर-सेवा में लगी;
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी ॥
गोलियों से शत्रु की भागी न थी।
चोट घातक खाय वह जागी न थी ॥
शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं।
थे जहाँ बैठे, रहे बैठे वहीं ॥
दु:ख में अब घोर चिन्ता छा गई।
प्रियतमा कैसे यहाँ अब आ गई ॥
आ गये उस काल सेनापति वहाँ।
वीर-नारी की लखी शुभ गति वहाँ ॥
वीर होकर भी हुई उनको व्यथा।
आदि से कहने लगे उसकी कथा ॥
दाइयाँ कुछ आपके दल के लिए,
कुछ समय पहले मुझे थीं चाहिए ॥

की गई इसकी प्रकाशित सूचना।
देवकी ने शीघ्र भेजी प्रार्थना॥
दाइयों में इस तरह भरती हुई।
अन्त तक निज काज यह करती हुई॥
शत्रु के अन्याय से मारी गई।
पायगा फल दुष्टता का निर्दयी॥
हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया।
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया॥
सौंपकर प्रिय देह सेनापति निकट।
प्रण किया सबसे उन्होंने यह विकट॥
भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु-नगर;
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर॥
और जो मैं ही मरूँ रिपु हाथ में;
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में॥
दूसरे दिन व्योम से जलता हुआ।
पर-कटे खगराज सा चलता हुआ॥
केन्द्र से कुछ दूर रव करके बड़ा।
युद्ध का नभ-यान आकर गिर पड़ा॥
नष्ट पुर को यान ने था कर दिया।
मार्ग रक्षित केन्द्र का था धर लिया॥

किन्तु रिपु का युद्ध गोला चल उठा ।
और उसकी आग से वह जल उठा ॥
पर दिया था बुझ चुका यह आग से ।
या बुझा उस दीप के अनुराग से ॥
प्रेम-बन्धन जन्म-लय का सार है ।
प्रेम-बन्धन देश का उद्धार है ॥
प्रेम-बन्धन देवकी-जयसिंह का ।
तोप से भी रिपु न खण्डित कर सका ॥

११

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

(वि० सं० १९४०—वर्त्तमान)

सनेही जी का जन्म उन्नाव जिले के 'हड़हा' कस्बे में सं० १९४० में हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। ये उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में अच्छी कविताएँ करते हैं। इनकी रचनाएँ सरस तथा भावपूर्ण होती हैं। इनकी कविताओं में करुण रस की प्रधानता रहती है। इनकी भाषा शुद्ध, परिमार्जित और सरल होती है। सनेही जी इस समय खड़ी बोली के उच्च श्रेणी के कवियों में गिने जाते हैं; पर इनकी ब्रज भाषा की कविता भी बहुत मनोहर होती है। ये तत्काल रचना करने में बड़े सिद्ध-हस्त हैं। पहले ये उन्नाव ट्रेनिङ्ग स्कूल में हेड मास्टर थे।

इनके मुख्य ग्रंथ ये हैं—

१ प्रेम-पचीसी; २ कुसुमाञ्जलि; ३ कृषक-क्रन्दन; ४ मानस-तरङ्ग; ५ करुण-भारती।

कौशल्या-विलाप

तन मन जिस पै मैं वारती थी सदैव।
वह गहन वनों में जायगा हाय दैव॥
सरसिज-तन हा हा कण्टकों में खिंचेगा!
घृत, मधु, पय-पाला स्वेद ही से सिंचेगा॥
यह हृदय-विदारी दृश्य मैं देखती हूँ।
पवि-हृदय बनी हूँ, आज भी जी रही हूँ॥
खल पतित अभागे प्राण जाते नहीं क्यों?
रहकर तन में वे हैं लजाते वहीं क्यों॥
मणि-महल-निवासी कन्दरा में रहेगा।
बन परम उदासी क्रन्दरा में रहेगा॥
मृदु पद-तलवाला कंकड़ों में चलेगा।
तज मखमल आला कंकड़ों में चलेगा॥
नव नव रस-भोजी खायगा कन्दमूल।
जब तक न मिलेगा नित्य इच्छानूकूल॥
मृदु सुमन बिछौने जो बिछाता रहा था।
वह कुछ न बिछावे, भाग्य में यों बदा था॥
नृपति-सुत होके यों उदासी बनेगा।
यह खबर किसे थी दैव ऐसा तनेगा॥

पल पल भर में ही थी उसे देख लेती।
उस पर अपना मैं वार सर्वस्व देती ॥
वह मुझ दुखिनी के नेत्र की ज्योति ही था।
बस अधिक कहूँ क्या, जान था, और जी था ॥
बन बन फिरने को जायगा लाल मेरा।
विधि कुटिल करेगा हाय क्या हाल मेरा ॥
विधु-मुख न विलोके चैन कैसे पड़ेगा?
निज सब कुछ खोके चैन कैसे पड़ेगा ॥
वह घन-छविवाला सामने जो न होगा।
वह मम पय-पाला सामने जो न होगा ॥
वह मृग-दृगवाला दृष्टि से जो हटेगा।
यह कठिन कलेजा क्यों न मेरा फटेगा ॥
वह मृदु मुसकाता जो न माता कहेगा।
फिर सुख मुझको क्या प्राण रखके रहेगा ॥
फिर मधुर मलाई मैं किसे हाय दूँगी?
वर विविध मिठाई मैं किसे हाय दूँगी ॥
मन मृदु वचनों से कौन मेरा हरेगा?
यह हृदय दुखी हो धैर्य्य कैसे धरेगा ॥
प्रति पल किस पर मैं प्राण वारा करूँगी?
मुख-छवि किसकी मैं हा निहारा करूँगी ॥

विधि ! यदि जगती में जन्म मेरा न होता ।
कुछ रुक रहता क्या कार्य्य तेरा न होता ॥
दुख विषम सहाने के लिये था बनाया ।
यह दिन दिखलाने के लिये था बनाया ॥
गुण-गण जिसके है गा रहा आज लोक ;
वह सुत बिछुड़ेगा शोक ! हा हन्त शोक ॥
वह नृप-पद पावे, मैं नहीं चाहती थी ।
दुख भरत उठावे, मैं नहीं चाहती थी ॥
सुरपति-पदवी भी तुच्छ मैं मानती थी ।
बढ़कर सबसे मैं राम को जानती थी ॥
सिर मुकुट बिना ही क्या न शोभा सना है ?
वह गुण-गरिमा से क्या न राजा बना है ॥
भुज-बल समता में लोक में है न वीर ।
रण-सुभट यथा है, है तथा धर्म धीर ॥
रति-पति-मद-हारी रूप भी है सलोना ।
वह सुरभि-सना है और है मञ्जु सोना ॥
प्रिय सुत वह मेरा भेस धारे यती का ।
निज नयन निहारूँ, दोष है भाग्य ही का ॥
उर उपल धरूँगी और क्या मैं करूँगी ।
विधि-वश दुख ऐसे देख के ही मरूँगी ॥

विधि ! सहृदय हो तो प्रार्थना मान जाओ ।
अब तुम मुझको ही मेदिनी से उठाओ ॥
मम प्रिय सुत छूटा, साथ ही देह छूटे ।
पल भर जननी का स्नेह-नाता न टूटे ॥
फल निज सुकृतों का हाय मैं पा रही हूँ ।
पर विधि पर सारा दोष मैं ला रही हूँ ॥
मन व्यथित महा है ज्ञान जाता रहा है ।
सदय विधि क्षमा दें, ध्यान जाता रहा है ॥
पर विनय न मेरी हे विधाता ! भुलाना ।
मम सुत मितभोजी, तू न भूखा सुलाना ॥
दुख उस पर कोई और आने न पावे ।
मम कुँवर कन्हैया कष्ट पाने न पावे ॥
युग-युग चिरजीवे, लोक में नाम होवे ।
फिर घर फिर आवे राम-ही-राम होवे ॥
किस विधि दुख झेलूँ, आर्त्ति कैसे घटेगी ?
यह अवधि बड़ी है, हाय ! कैसे कटेगी ॥
पल पल युग होगा याम तो कल्प होंगे ।
दिन-दिन दुख दूना, कष्ट क्या अल्प होंगे ॥
मतिहत दुख दोना धैर्य्य कैसे धरूँगी ?
सुध कर-कर सुत की मैं हाय रो-रो मरूँगी ॥

वह दृढ़-प्रण-पाली नीतिशाली कहाँ है ?
वह हृदय-लता का मंजु माली कहाँ है ॥
वह प्रबल प्रतापी हंस-वंशी कहाँ है ?
वह खल-गण-तापी विष्णु-अंशी कहाँ है ॥
तन सघन घटा सा श्याम प्यारा कहाँ है ?
वह अवधपुरी का राम प्यारा कहाँ है ॥
वह मुझ जननी का चक्षु तारा कहाँ है ?
वह तन मन मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है ॥
वह कलरव—केकी बोलता क्यों नहीं है ?
अब मधु श्रवणों में घोलता क्यों नहीं है ॥
बन क्षण भर में ही क्या गया हाय प्यारा !
अब मुझ दुखिनी को क्या रहा है सहारा ॥
फिर मम सुत कोई पास मेरे बुला दे ।
शशि-मुख बन जाते देख लूँ, आ दिखा दे ॥
निज हृदय लगा लूँ, ताप सारा मिटा लूँ ।
फिर लख उसको मैं चित्त में चैन पा लूँ ॥
घर दुखद बना है जो कि था मोद-धाम ।
मम प्रिय सुत हा ! हा ! राम ! हा राम ! राम !
यह कह कर रानी हो गई चेत-हीन ।
जल तज कर जैसे खिन्न हो मीन दीन ॥

१२

रामचन्द्र शुक्ल

(वि० सं० १९४१—वर्त्तमान)

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती ज़िले के अगोना गाँव में सं० १९४१ में हुआ था। ये गर्ग-गोत्री सरयूपारी ब्राह्मण हैं। जब इनकी अवस्था ८ वर्ष की थी, तभी इनकी माता का देहान्त हो गया था। तब से ये मिर्ज़ापूर में रहने लगे। इनके पिता वहाँ सदर क़ानूनगो थे। इन्हें प्राकृतिक दृश्यों से बचपन से ही बहुत प्रेम है। एँट्रेंस पास करने के बाद ये एफ० ए० में दाख़िल हुए, परन्तु गृहस्थी की झंझटों के कारण इन्हें कालिज छोड़ना पड़ा।

तब ये कुछ दिनों के बाद मिशन स्कूल में मास्टर हो गये। सन् १९०८ में ये काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के हिन्दी कोश की तैयारी में सहायता देने के लिये बुलाए गए और अन्त तक उसके सहायक सम्पादकों में प्रमुख थे। नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का भी सम्पादन इन्होंने कई वर्षों तक किया था। आज-कल ये काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफ़ेसर हैं। ये हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर विद्वान्, एक प्रतिभाशाली कवि, बहुत बड़े विचारशील लेखक और प्रथम श्रेणी के समालोचक हैं। फुटकर निबन्धों तथा कविताओं के अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित, सम्पादित, अनुवादित या संगृहीत ग्रन्थों की संख्या १५ से अधिक है। इन्होंने तुलसी, जायसी और सूर पर बहुत उच्च कोटि के समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ कल्पना का आनन्द (Edison's Essays on the Imagination का अनुवाद); २ मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (अँग्रेज़ी का अनुवाद); ३ शशाङ्क (राखालदास वन्द्योपाध्याय के प्रसिद्ध बँगला उपन्यास का अनुवाद); ४ बुद्ध-चरित (Light of Asia के आधार पर आठ सर्गों का एक सरस काव्य); ५ विश्वप्रपञ्च (हेकल के Riddle of the Universe का छायानुवाद जिसमें दर्शन विज्ञान के तत्वों से पूर्ण १५५ पृष्ठों की भूमिका देखने योग्य है); ६ भ्रमर-गीत-सार (समालोचना सहित); ७ विचार-वीथी (निबन्ध-संग्रह); ८ जायसी ग्रन्थावली (आलोचनात्मक भूमिका सहित); ९ गोस्वामी तुलसीदास का जीवनचरित; १० काव्य में रहस्यवाद।

भगवान् बुद्ध की हंस-रक्षा

करत श्रीभगवान गुरुजन को सदा सम्मान ;
वचन कहत विनीत, यद्यपि परम ज्ञान-निधान।
राज-तेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार ;
हृदय परम सुशील, कोमल, यद्पि शूर अपार।

कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिं ;
साहसी असवार तिन सम कोउ निकसत नाहिं।
राज-भवन समीप कबहूँ होड़ जा लगि जाय ;
रथ चलावन माहिं कोऊ तिन्हैं सकत न पाय।

करत रहत अहेर, सहसा ठिठकि जात कुमार ;
जान देत कुरंग को भजि, लगत करन विचार।
कबहुँ जब घुरदौर में हय हाँफि छाँड़त साँस ;
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास।

लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि,
जीति आधी कुँवर बाजी खोय देतो जानि।
बढ़त ज्यों-ज्यों गयो प्रभु को वयस लहि दिन-राति,
बढ़ति दिन-दिन गई तिनकी दया याही भाँति।

यथा कोमल पात द्वै तें होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौं वहु जो गये कछु काल।
किंतु जानत नाहिं अब लौं रह्यो राजकुमार,
क्लेश, पीड़ा, शोक काको कहत है संसार।

इन्हें ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिं,
राजकुल में कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिं।
एक दिवस वसंत ऋतु में भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सों द्वै हंस उड़ि कै जात।

जात उत्तर ओर निज-निज नीड़ दिशि तें धाय,
शुभ्र हिमगिरि अंक में जो लसत ऊपर जाय।
प्रेम के सुर भरत, बाँधे धवल सुन्दर पाँति,
उड़े जात विहंग कलरव करत नाना भाँति।

देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि,
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि।
जाय वैठ्यो पंख में सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार।

गिर्‌यो खग भहराय, तन में विंध्यो विशिख कराल,
रक्त-रंजित ह्वै गयो सब श्वेत पंख विशाल।

देखि यह सिद्धार्थ लीन्हो धाय ताहि उठाय,
गोद में लै जाय बैठ्यो पद्म-आसन लाय।

फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को यों दियो धीर धराय।
नवल कोमल कदलि-दल सम करन सों सहराय,
प्रेम सों पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय।

खैंचि लीन्हों निठुर शर करि यत्न बारंबार,
घाव पै धरि जड़ी-बूटि कियो बहु उपचार।
देखिबे हित पीर कैसी होति लागे तीर,
लियो कुँवर धँसाय सो सर आप खोलि शरीर।

चौंकि सो चट पर्यो, पीरा परी दारुण जानि,
छाय नयनन नीर खग पै लग्यौ फेरन पानि।
पास ताके एक सेवक तुरत बोल्यो आय,
अबै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय।

गिर्यो पाटल बीच विंधि कै ठौर पै सो याहि,
मिलै मोको, प्रभो! मेरे कुँवर माँगत ताहि।
बात ताकी सुनत बोल्यो तुरत राजकुमार,
जाय कै कहि देहु, दैहौं नाहिं काहु प्रकार।

मरत जो खग, अवसि पावत ताहि मारनहार,
जियत है जब, तासु तापै नाहिं कछु अधिकार।
दियो मेरे बंधु ने बस तासु गति को मारि,
रही जो इन श्वेत पंखन को उठावनहारि।

देवदत्त कुमार बोल्यो जियै वा मरि जाय,
होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय।
नाहिं काहू को रह्यो जौ लौं रह्यो नभ माहिं,
गिरि पर्‍यो तब भयो, मेरो, देत हौ क्यों नाहिं?

लियो तब खग-कंठ को प्रभु निज कपोलन लाय,
पुनि परम गंभीर स्वर सों कह्यो ताहि बुझाय।
उचित है यह नाहिं, जो कछु कहत हौ तुम बात,
गयो ह्वै यह विहँग मेरो, नाहिं दैहौं तात!

जीव बहु अपनायहौं या भाँति या संसार,
दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार।
दया-धर्म सिखायहौं मैं मनुज-गन को टेरि,
मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौं हेरि।

रोकिहौं भव-ताप की यह बढ़ति धार कराल,
परे जामें मनुज तें लै सकल जीव बिहाल।

किंतु चाहै कुँवर तौ चलि विज्ञजन के तीर,
कहैं अपनी बात, चाहैं न्याय, धरि जिय धीर।

भयो अंत विचार नृप के सभामंडप माहिं,
कोउ 'ऐसो' कहत, कोऊ कहत 'ऐसो नाहिं'।
कह्यो याही बीच उठि अज्ञात पंडित एक,
"प्राण है यदि वस्तु कोऊ, करो नैकु विवेक।

जीव पै है जीव-रक्षक को सकल अधिकार,
स्वत्व वाको नाहिं चाह्यो वधन जो करि वार।
वधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार;
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार।"

लख्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान,
भई मुनि की खोज, पै सो भए अन्तर्द्धान।
व्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिं,
देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिं।

दया के शुभ कार्य को आरम्भ याहि प्रकार,
कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार।
छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत!

ॐ

१३

सत्यनारायण 'कविरत्न'

(वि० सं० १९४१-१९७५)

पं० सत्यनारायण का जन्म आगरा जिले के सराय नामक गाँव में सं० १९४१ वि० में हुआ था। इनके पिता की मृत्यु इनके जन्म से पहले ही हो चुकी थी। इनकी माता इन्हें बचपन में छोड़कर परलोक सिधार गईं। कुछ दिनों तक ये अपनी मौसी के पास रहे। पर फिर उनका भी देहान्त हो जाने पर ये धाँधूपर (तहसील आगरा) के रघुनाथजी के मन्दिर के ब्रह्मचारी बाबा रघुनाथदासजी के आश्रय में आये। इनकी मौसी इसी गद्दी की चेली थीं। वे इन्हें ब्रह्मचारीजी को सौंपकर चली गईं। इन्होंने १९०८ में एफ० ए० परीक्षा पास कर ली, पर १९१० में बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। तब इन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। ये बहुत ही सीधे-सादे और मिलनसार थे। देखने में बिलकुल अशिक्षित और ग्रामीण से जान पड़ते थे। इन्हें कविता का प्रेम बचपन से ही था। ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों में ये बहुत ही सुन्दर और सरस कविता करते थे, परन्तु ब्रज भाषा में इन्होंने अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की थी। सं० १९७५ में इनके देहान्त से ब्रज भाषा की बड़ी हानि हुई।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ देशभक्त होरेशस; २ रामचरित-नाटक; ३ मालती-माधव नाटक; ४ हृदय-तरङ्ग (इनकी कविताओं का संग्रह); ५ रघुवंश के कुछ सर्गों का अनुवाद, भ्रमरदूत और हंसदूत आदि अभी अप्रकाशित हैं।

प्रभो !

बस अब नहिं जाति सही ।
विपुल वेदना विविध भाँति जो तन-मन व्यापि रही ॥
कब लौं सहैं अवधि सहिबे की कछु तो निश्चित कीजे ।
दीनबन्धु ! यह दीन-दसा लखि, क्यों नहिं हृदय पसीजे ॥
बारन-दुख-टारन, तारन में प्रभु तुम बार न लाये ।
फिर क्यों करुणा करत स्वजन पै, करुणानिधि अलसाये ॥
यदि जो कर्म-यातना भोगत, तुम्हरे हू अनुगामी ।
तौ करि कृपा बतायौ चहियतु, तुम काहे के स्वामी ॥
अथवा विरद-बानि अपनी कछु, कै तुमने तजि दीनी ।
या कारण हम अस अनाथ की, नाथ ! न जो सुधि लीनी ॥
वेद बदत गावत पुरान सब, तुम त्रय-ताप नसावत ।
सरणागत की पीर तनक है तुम्हैं तीर सम लागत ॥
हम से सरणापन्न दुखी को जाने क्यों बिसरायो ।
सरणागत-वत्सल 'सत' यों ही कोरो नाम धरायो ॥

मधुर वीणा

देवी मनुष्यते ! अब, वीणा मधुर बजा दे !
सुन्दर सुरीला गाना चित-शान्ति का सुना दे ॥
अज्ञान की अँधेरी, पथ भूल मारा मारा।
ये जग भटक रहा है, इसको प्रभा दिखा दे ॥
भाई सभी परस्पर ऊँचा न कोई नीचा।
समवेदना के मोहन मृदु मन्त्र को जपा दे ॥
काला कलह का परदा, कृपया उसे हटाकर।
एकात्मता का दर्शन, दुनिया को फिर करा दे ॥
नीरस न जाने कब का मानव हृदय पड़ा है।
प्यारी पियूष-धारा उसमें विमल बहा दे ॥
सोई हुई कलाएँ कविताएँ चारु कोमल।
कौशलमयी, उन्हें तू बस छेड़कर जगा दे ॥
सच्ची स्वतन्त्रता की समता की भावनाएँ।
पावन प्रताप-पूरण इस जग में जगमगा दे ॥

मातृ-स्मृति

तेरे बिना मातु को मेरी काजर आँखि लगैहै।
हाथ पाँव करि ऊजर माता को मुख मोद धुवैहै॥
भाँति-भाँति के वस्त्र हाथ गहि को मोको पहिरैहै।
बड़ी फिकिर करिके को माता भोजन मोहिं करैहै॥
दत्त-चित्त ह्वै तो बिन माता मोकहँ कौन पढ़ैहै।
मारि-पीटि कै जननि कौन मोहि बारंबार खिझैहै॥
पढ़े लिखे की मातु आज तें कौन परीक्षा लैहै।
भीतर तें प्रसन्न ह्वै माता ऊपर तें जु खिरैहै॥
सुखी होय कर माता मों पै, को इनाम अत्र देगी।
समझि उठनि अपने लालन की कौन हीय भरि लेगी॥
हाय मात निज वत्सहिं तजिकैं कितको जाय सिधारी।
बिना लखे तुम्हरे जल बरसै नैनन तें अति भारी॥
जो मैं जानत ऐसी माता सेवा करत बनाई।
हाय हाय कह करूँ मात तव टहल नहीं कर पाई॥

अगम थाह

को गुन अगम थाह तव पावै।
विश्व-रूप अद्भुत अगाध अति, अनुपम किमि कहि जावै॥
रोम रोम ब्रह्माण्ड ग्रथित रवि, अनगिन ग्रह ससि तारे।
भ्रमत धुरी अपनी अपनी पै, निसि दिन न्यारे न्यारे॥
घूमत सकल चक्र मण्डल में, करत निरन्तर जोती।
इक आकरसन शक्ति डोरि में, मनहुँ पिरोये मोती॥
फूल-भरी, मनहरी, हरी सिर, सारी रसा विराजै।
उडुगन रुचिर नभस्थल प्रतिकृति, प्रिय तेहि मधि जनु भ्राजै॥
कबहुँ सघन घन नित नूतन तन, धावत द्रुत दरसावत।
विद्युत चमकत तिन ललाट सों, श्रम-सीकर बरसावत॥
मदमाती रसवती सरित कहुँ, रसनिधि अंक मिलाई।
प्रकृति-रम्य पुनि ऋतु-परिवर्तन, चहुँ दिसि छवि छिटकाई॥
होत विज्ञ वाचाल मूक लखि गति रहस्य-रस-रॉंची।
भगवन् ! 'नेति नेति' तव कीरति, लसै अखिल जग सॉंची॥

उपालम्भ

माधव अब न अधिक तरसैये ।
जैसी करत सदाँ सों आये, वुही दया दरसैये ॥
मानि लेउ, हम क्रूर कुढंगी कपटी कुटिल गँवार ।
कैसे असरन-सरन कहो तुम जन के तारनहार ॥
तुम्हरे अछत तीन-तेरह यह देस-दसा दरसावै ।
पै तुमको यहिं जनम धरे की तनकहु लाज न आवै ॥
आरत तुमहिं पुकारत हम सब सुनत न त्रिभुवन-राई ।
अँगुरी डारि कान में बैठे धरि ऐसी निठुराई ॥
अजहुँ प्रार्थना यही आप सों अपनो विरद सँवारो ।
'सत्य' दीन दुखियन की विपता आतुर आइ निवारो ॥

१४

रूपनारायण पाण्डेय 'कमलाकर'

(सं० १९४१ वि०—वर्त्तमान)

पं० रूपनारायण पाण्डेय का जन्म लखनऊ में सं० १९४१ वि० में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। जब ये एक ही वर्ष के थे, तब इनके

पिता पं० शिवराम पाण्डेय का देहान्त हो गया। तब इनके पितामह ने इनका पालन किया। प्रथमा परीक्षा पास करके मध्यमा में पढ़ रहे थे कि पितामह का भी देहान्त हो गया। तब इन्हें गृहस्थी चलाने के लिए नौकरी का आश्रय लेना पड़ा। इन्होंने स्कूल में विद्याध्ययन कम किया था। जो कुछ इन्होंने योग्यता प्राप्त की, वह इनके निज परिश्रम का फल है। इन्होंने 'वर्ण-परिचय' देखकर एक सप्ताह में बँगला भाषा सीख ली। इन्हें संस्कृत, हिन्दी, अँगरेजी, गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू आदि कई भाषाओं की अच्छी योग्यता है। इन्हें बचपन से ही साहित्य की धुन है। १५ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने कुछ-कुछ लिखना शुरू कर दिया। इस समय तक इनके द्वारा रचित और अनुवादित ग्रन्थ ६०-७० से अधिक हैं। कुछ वर्ष भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं का सम्पादन भी करते रहे हैं। इन्होंने बँगला के उपन्यासों के सरस तथा सुन्दर अनुवाद करने में परम यश पाया है। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' नाम से छपा है।

इनके अनुवादित ग्रन्थ ये हैं—

१ श्री मद्भागवत का अनुवाद; २ आँख की किरकरी; ३ चौबे का चिट्ठा; ४ दुर्गादास; ५ शाहजहाँ; ६ नूरजहाँ; ७ सीता; ८ बंकिम निबन्धावली; ९ ताराबाई; १० राजा-रानी; ११ गल्पगुच्छ पाँच भाग; १२ महाभारत सम्पूर्ण; १३ हरीसिंह नलवह; १४ कृष्णकुमारी; १५ बहता हुआ फूल इत्यादि।

प्रार्थना

(१)

श्रीपति हम हैं पतित, पतित-पावन तुम सच्चे,
क्षमाशील तुम पिता, नासमझ हम हैं बच्चे।
हम भूले हैं तुम्हें, दोष यह अपना माना;
पर क्या तुमको उचित, प्रभो, यों हमें भुलाना?
मिट्टी में खेला करे, बालक मनोविनोद में,
किंतु उसे माता-पिता, क्या न उठाते गोद में?

(२)

भक्ति, शक्ति से हीन, दीन, दोषों से युत हैं,
कैसे ही हों, पिता, आप ही के तो सुत हैं।
मंगलमय कर-कमल कुमति को हरनेवाला,
सिर पर रख दो, मिटे मोह जिसने घर घाला।
देखें अपने रूप को विद्या के आलोक में,
पहले का वह अभ्युदय पावें फिर इस लोक में।

(३)

मंगलमय, आनंद-कंद, जय धर्म-धुरंधर;
ज्योतिर्मय, जगदीश, जयति जड़ता-हर, शंकर।

अंतर्यामी, दीन-बंधु, स्वामी, गुरु, प्यारे,
भ्राता, माता, पिता, बंधु सब तुम्हीं हमारे।
आर्यादर्श-प्रकाश से मिटे मोह-मत्सर सभी,
कृपा-कोर इस ओर हो, भारत-भर सँभले अभी।

(४)

स्वावलंब का पाठ पढ़ें सारे नर नारी,
स्वाभिमान के साथ सदाचारी हों भारी।
राष्ट्र-भक्ति हो मूल मंत्र, उन्नति का व्रत हो,
दया-धर्म के साथ सत्य पर लक्ष्य सतत हो।
फिर उन्नत आदर्श हो, फिर वैसा ही हर्ष हो,
जगती-तल में धन्य फिर प्यारा भारतवर्ष हो।

(५)

हरिश्चंद्र-से सत्य पालनेवाले फिर हों,
रामचन्द्र-से प्रण निबाहनेवाले फिर हों।
कृष्णचन्द्र-से कर्मयोग के सच्चे फिर हों,
ध्रुव, लव-से, प्रह्लाद, पार्थ-से बच्चे फिर हों।
फिर देखे सारा जगत गुरुओं का गौरव वही,
फिर से हो संसार में स्वर्ग-सदृश भारत-मही।

दलित कुसुम

(१)

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला ।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला ॥

(२)

तड़प तड़प माली अश्रु-धारा बहाता ।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता ॥
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से ।
इस नव-लतिका की गोद सूनी किये से ॥

(३)

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था ।
अगणित अभिलाषा और आशा-भरा था ॥
दलित कर इसे तू काल ! क्या पा गया रे !
कण भर तुझ में क्या हा ! नहीं है दया रे ॥

(४)

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता ।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता ॥
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है ।
नियति ! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है ॥

आश्वासन

(१)

वे उठते भी हैं अवश्य ही जो गिरते हैं।
दुर्दिन के ही बाद सुदिन सब के फिरते हैं॥
देखे दारुण दुःख वही नर फिर सुख पावे।
अवनति के उपरान्त घड़ी उन्नति की आवे॥
रवि रात बीतने पर प्रकट होते प्रातः समय में।
बस यही सोच कर आप भी धीरज रखिए हृदय में॥

(२)

होता प्रथम वसन्त ग्रीष्म ऋतु फिर आती है।
चले पसीना अंग आग सी लग जाती है॥
पत्ते फल या फूल बिना जल, जल जाते हैं।
पशु-पक्षी भी घोर घाम से घबराते हैं॥
फिर शीघ्र देखते देखते हरी-भरी होती मही।
आ जाती वर्षा ऋतु भली सुख देती तत्काल ही॥

(३)

कवियों का सर्वस्व, स्वर्ग की शोभा धारी।
शिव के भी सिर चढ़ा और आकाश-विहारी॥
अमृत-सहोदर चन्द्र, कला जब घटने लगती।
तब होता है क्षीण और श्री लुटने लगती॥

वह किन्तु शीघ्र ही पूर्ण हो, होता है फिर अभ्युदय।
है ठीक नियम यह प्रकृति का, परिवर्तन हो हर समय॥

(४)

इतने बड़े अनंत तेज की राशि दिवाकर।
तपते तीनों लोक बीच, पूजित हो घर घर॥
किन्तु समय पर राहु उन्हें ग्रस लेता जा कर।
कुछ कर सकते नहीं हज़ारों यद्यपि हैं कर॥
वह पहले होते अस्त या ग्रस्त समस्त प्रभारहित।
फिर होते मुक्त, प्रकाश से युक्त, पूर्व में अभ्युदित॥

(५)

जीव मरण के बाद जन्म पाता है देखो।
कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल आता है देखो॥
चलती है हेमन्त हवा जब जोर दिखाती।
तब होता पतझाड़ न पत्ती रहने पाती॥
फिर वही वृक्ष होते हरे नव-पल्लव-शोभित सभी।
बस इसी तरह होंगे सुखी उन्नति-युत हम भी कभी॥

—::—

ॐ

१५

मन्नन द्विवेदी बी० ए०

(वि० सं० १९४२–१९७८)

पं० मन्नन द्विवेदी बी० ए० का जन्म गोरखपुर जिले के गजपुर गाँव में सं० १९४२ वि० में हुआ था। सं० १९६५ में गवर्नमेण्ट कालेज बनारस से इन्होंने बी० ए० परीक्षा पास की। जब ये छठी श्रेणी में थे, तभी से पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने लग गये थे। ये बहुत अच्छे लेखक और कवि थे। इनकी भाषा बहुत सजीव और ओजस्विनी होती थी। ये सरकारी नौकर थे और अन्त समय तक तहसीलदार थे। इन्होंने आठ-दस ग्रन्थ लिखे थे। ये अल्पायु में ही सं० १९७८ में परलोक सिधार गये।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ बन्धु-विनय (पद्य); २ धनुषभंग (पद्य); ३ रणजीतसिंह का जीवन-चरित्र; ४ आर्य ललना; ५ मुसलमानी राज्य का इतिहास, दो भाग; ६ रामलाल (उपन्यास); ७ भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष; ८ गोरखपुर विभाग के कवि।

दासत्व

(१)

दासत्व के तुल्य न वस्तु नीच
देखी किसी ने इस विश्व बीच।
जो हो गये हैं परतन्त्र दास
आनन्द आता उनके न पास॥

(२)

बिना नहाये, जल-अन्न पाये
मान-प्रतिष्ठा अपनी बहाये।
"हुजूर हाँ हाँ" करते फिरे हैं
वृथा सदा ही मरते फिरे हैं॥

(३)

चिन्ता चिता सी नित है जलाती
नहीं कभी भी निशि नींद आती।
हो व्यास से भी बढ़ बुद्धिमान
हो बालि से भी बल के निधान॥

(४)

देवेश से भी बढ़ तेजधारी
जो जीत ली हो यह सृष्टि सारी।
तो भी नहीं सो कुछ काम आता
दासत्व सद्भाव सभी छिपाता॥

(५)

जो बुद्धि-विद्या-बल से विहीन
पापी, सुरापी अति ही मलीन।
वे आलसी मूर्ख तुम्हें बनाते
जो शीश जाके उनको झुकाते॥

(६)

जो जानते हैं पर को सताना
बातें बनाना प्रभु को रिझाना।
न बात का है जिनके ठिकाना
न मानते जो अपना बिगाना॥

(७)

जूती हमेशा सिर पै उठाना
आँखें दिखाना छल-छन्द नाना।

चाहे हमेशा दुख ही दिखाना
चाहे जलाना, गिरि से गिराना ॥

(८)

नृ-योनि में हे हरि ! जो पठाना
न भूल भी दास मुझे बनाना।
करो कृपा हे त्रयताप हारी !
दासत्व है दुस्तर-दुःख-कारी ॥

उद्बोधन

(१)

हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद के हैं मेघ छाये, इधर फटिक जल छलक रहा है॥

(२)

इधर घना बन हरा भरा है, उपल पै तरुवर उगाया जिसने।
अचम्भा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा ये भारत जगाया उसने॥

(३)

कभी हिमालय के शृङ्ग चढ़ना, कभी उतरते हैं थक के श्रम से।
थकन मिटाता है मंजु झरना, बटोही छाये में बैठ थक के॥

(४)

कृशोदरीगन कहीं चली हैं, लिये हैं ओझा छुटी हैं बेणी।
निकल के बहती है चन्द्रमुख से, पसीना बनकर छटा की श्रेणी॥

(५)

गगन समीपी हिमाद्रि शिखरें, घरों में जलती है दीप-माला।
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण, इधर रसीली हैं देव-बाला॥

(६)

गिरीश भारत का द्वार-पट है, सदा से है यह हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा, बगल में बहती हमारी गंगी॥

(७)

बता दे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा ?
कहाँ युधिष्ठिर, कहाँ है अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा ॥

(८)

सिखा दे ऐसा उपाय मोहन, रहैं न भाई पृथक् हमारे।
सिखा दे गीता की कर्म-शिक्षा, बजा के वंशी सुना दे प्यारे ॥

(९)

अँधेरा फैला है घर में माधो, हमारा दीपक जला दे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा, दिवाली फिर भी दिखा दे प्यारे ॥

(१०)

हमारे भारत के नौनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृद हमारे, हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे ॥

(११)

न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशो दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अँधेरा मिटा है प्यारे ! बहुत दिनों पर दिवाली आई ॥

चिन्ता

(१)

हरियाली निराली दिखाई पड़े,
शुभ शान्ति सभी थल छाई हुई।
पति-संजुत सुन्दरी जा रही है,
श्रम चिन्तित ताप सताई हुई॥

(२)

सरिता उमड़ी तट जोड़ी खड़ी,
अति प्रेम से हाथ मिलाये हुए।
सुकुमारी सनेह से सींचती है,
वह प्रीतम भार उठाये हुए॥

(३)

दिन बीत गया निशि चन्द्र लसै,
नभ देख लो शोभती तारावली।
रस मोदमयी वर यामिनी में,
यह कामिनी कन्त ले भवन चली॥

(४)

मद माता निषाद, नहीं सुनता,
मँझधार में नैया लगाये हुए।
हे कन्हैया! उतार दे पार हमें,
हम तीन घड़ी से हैं आये हुए॥

चमेली

सुन्दरता की रूप-राशि तुम, दयालुता की खान चमेली।
तुम-सी कन्याएँ भारत को, कब देगा भगवान चमेली॥
चहक रहे खग-वृन्द वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली॥
प्रेम-मग्न प्रेमीजन देखो, करें प्रभाती गान चमेली।
जिसने तुम-सा वृक्ष लगाया, कर माली का ध्यान चमेली॥
जग-यात्रा में सहने होंगे, कभी-कभी दुख-भार चमेली।
काट-छाँट से मत घबराना, यह भी उसका प्यार चमेली॥
छिन्न-भिन्न डालों का होना, अपने ही हित जान चमेली।
हरे हरे पत्ते निकलेंगे, सुमनों के सामान चमेली॥
भ्रमर-भीर गुञ्जार करेगी, तुझ से हास-विलास चमेली।
दिग-दिगन्त सुरभित होवेगा, पाकर सुखद सुवास चमेली॥
अटल नियम को भूल न जाना, जग में सब का नाश चमेली।
अस्त अंशुमाली भी होता, घूम अखिल आकाश चमेली॥
नहीं रहेगा मूल न शाखा, नहीं मनोहर फूल चमेली।
निराकार से मिल कर होना, प्रियतम-पद की धूल चमेली॥

मैथिलीशरण गुप्त

(वि० सं० १९४३–वर्त्तमान)

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव (झाँसी) में सं० १९४३ में हुआ था। इनके पिता सेठ श्रीरामचरण जी को कविता का बड़ा प्रेम था और वे स्वयं भी कविता करते थे। उन्हीं के सान्निध्य तथा आचार्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की प्रेरणा से इन्होंने खड़ी बोली में कविता करना प्रारम्भ किया था। खड़ी बोली के वर्त्तमान हिन्दी-कवियों में बाबू मैथिलीशरण का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके द्वारा लिखित मौलिक तथा अनुवादित ग्रन्थों की संख्या २० के लगभग है। इनके काव्य-ग्रन्थ 'भारत-भारती' का जनता में और विशेषतः विद्यार्थियों में बहुत सम्मान है। इनकी भाषा व्याकरण-सम्मत और विशुद्ध होती है। इनकी भाषा में संस्कृत के शब्द अधिक होते हैं, तथापि भाषा कठिन नहीं होती। ये संस्कृत, बँगला आदि कई भाषाएँ जानते हैं। इनकी कविताओं में राष्ट्रीय भावों का भी अच्छा रंग रहता है। स्वदेशी के ये दृढ़ पक्षपाती हैं। अवकाश के समय में चरखा चलाते हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

मौलिक—१ भारत-भारती; २ जयद्रथवध; ३ रङ्ग में भङ्ग; ४ पंचवटी; ५ पद्य-प्रबन्ध; ६ शकुन्तला; ७ किसान; ८ साकेत महाकाव्य।

अनुवादित—१ विरहिणी व्रजाङ्गना; २ पलासी का युद्ध; ३ मेघ-नाद वध; ४ वीराङ्गना; ५ रुबाइयत उमर खय्याम।

मातृ-भूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दी विविध विहंग, शेषफन सिंहासन हैं ॥
करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेश की !
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही,
सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥

मृतक-समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था ॥
जो जननी का भी सर्वदा,
थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
मातृभूमि मातामही ॥

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं।

परमहंस सम बाल्य काल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूल भरे हीरे' कहलाये ॥
हम खेले कूदे हर्षयुत,
जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि! तुझको निरख,
मग्न क्यों न हों मोद में ॥

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता ॥
उन सब में तेरा सदा
व्याप्त हो रहा तत्त्व है।
हे मातृभूमि! तेरे सदृश
किसका महा महत्त्व है ॥

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है ॥
शुचि सुधा सींचता रात में
तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।

हे मातृभूमि ! दिन में तरणि
करता तम का नाश है ॥

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं ;
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं ।
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातुवर-रत्नोंवाली ॥
आवश्यक जो होते हमें ,
मिलते सभी पदार्थ हैं ।
हे मातृभूमि ! 'वसुधा', 'धरा'
तेरे नाम यथार्थ हैं ॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी ,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी ।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी ,
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी ॥
मृदु मलय-वायु मानो तुझे ,
चन्दन चारु चढ़ा रही ।
हे मातृभूमि ! किसका न तू ,
सात्विक भाव बढ़ा रही ॥

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ।

विभवशालिनी, विश्वपालिनी दुख-हर्त्री है,

भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है ॥

हे शरण-दायिनि देवि ! तू,

करती सबका त्राण है।

हे मातृभूमि ! सन्तान हम,

तू जननी, तू प्राण है ॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,

उससे हे भगवान् ! कभी हम रहें न न्यारे।

लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,

उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे ॥

उस मातृभूमि की धूल में,

जब पूरे सज जायँगे।

होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,

आत्मरूप बन जायँगे ॥

आभास

अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
कह, तू किन शब्दों में देगा युग-युग का आभास ?
इधर देख, वह विष ही पीते
हमें यहाँ कितने दिन बीते ?
फिर भी अमृत-पुत्र हम जीते ;
जिये आत्म-विश्वास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

पुण्यभूमि के इस अंचल में,
सिन्धु और सरयू के जल में,
गङ्गा-यमुना के कल-कल में,
अगणित वीचि-विलास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

मन्त्रों का दर्शन, अवतारण,
और दर्शनों का ध्रुव-धारण,
वह उपनिषदों का उच्चारण,
योगों का आवास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

आत्मभाव का वह उजियाला ,
त्याग, याग, तप की वह ज्वाला ,
पावन-पवन तपोवनवाला ,
वह विकास, यह हास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

कब की थी वह सञ्चित माया ,
जो पसार कर अपनी काया ,
पाकर राम-राज्य की छाया ,
करती थी सुख-वास ?
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

बजी चैन की वंशी निर्भय ,
आया कलि के आगे अविनय ,
फिर भी धर्मराज की जय-जय ,
छाया वह उच्छ्वास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

हम उजड़ों ने भी बढ़ बढ़ कर ,
पार उतर, ऊपर चढ़-चढ़ कर ,
देश बसाये हैं गढ़-गढ़ कर,
तब भी बिना प्रयास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

संघ-शरण लेकर सुखदाई,
फिर भी यहाँ शान्ति फिर आई,
गूँज गिरा गौतम की जाई;
फिर नव भव-विन्यास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

उदासीनता की दोपहरी,
श्रान्तिमयी निद्रा थी गहरी,
तब भी जाग रहे थे प्रहरी,
कर न सका कुछ त्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

सहसा एक स्वप्न-सा आया,
वह क्या-क्या उत्पात न लाया?
जागे तो यह बन्धन पाया,
हुआ हाय! खग्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

किन्तु निराश न होना भाई,
इसमें भी कुछ भरी भलाई;
तुमने मोहन की मति पाई,
उठने दो उल्लास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

निज बन्धन भी विफल न जावे ,
विश्व एक नूतन पथ पावे ;
बन्धु-भाव में वैर विलावे ;
अनुपम ये दिन-मास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

ॐ

१७

लोचनप्रसाद पाण्डेय

(वि० सं० १९४३—वर्त्तमान)

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय का जन्म बालपुर जिला बिलासपुर में सं० १९४३ वि० में हुआ था। ये संस्कृत, बँगला, उड़िया तथा अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता हैं। इस समय तक इन्होंने २०—२५ ग्रन्थ लिखे हैं। ये केवल कवि तथा लेखक ही नहीं हैं, वरन् प्राचीन इतिहास के अच्छे तत्वान्वेषक भी हैं। ये मध्यप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हो चुके हैं। मध्य-प्रान्त के हिन्दी-साहित्य के सेवकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये उड़िया के भी अच्छे विद्वान् और कवि हैं। अँगरेजी में भी इन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं।

इनके हिन्दी के मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ दो मित्र; २ बाल-विनोद; ३ नीति-कविता; ४ बालिका-विनोद; ५ माधव-मञ्जरी; ६ मेवाड़-गाथा; ७ चरित-माला; ८ रघुवंश-सार; ९ पद्य-पुष्पाञ्जलि; १० कविता-कुसुम-माला।

—o—

निदाघी मध्याह्न

(१)

आई मध्याह्न-वेला प्रखर अति हुई सूर्य की रश्मि-माला।
पृथ्वी में है अहा ! क्या बरस यह रही व्योम से अग्नि-ज्वाला॥
ऊष्मा से भूमि की हो पवन अब बड़ा तप्त सन्तापकारी।
जीवों को दग्ध सा है अहह ! कर रही दे उन्हें दुःख भारी॥

(२)

छाया चारों दिशा में रज-दल, वसुधा की हुई दीप्ति हीना।
तालों के नीर ठण्ढे अब गरम हुए पद्म-माला मलीना॥
पेड़ों की डाल, वल्ली, किसलय, कलिका, कुञ्ज शोभायमान।
होके सन्तप्त हा ! हा ! दिनकर-कर से हो रहीं सर्व म्लान॥

(३)

प्यासे हो, मुख खोले, कलरव तज के भीत से मौन धारे।
बैठे हैं कोटरों में खगगण तरु के ताप-सन्ताप मारे॥
होके हा हा शुष्क कण्ठ व्यथित विपिन के जन्तु दग्धा मही में।
छाया में हाँपते जा, तज तृण चरना शान्ति पाके न जी में॥

(४)

खेतों से क्लान्त होके कृषकगण सभी गेह को लौट आये।
पत्नी, कन्या सुशीला, सुत मिल सबसे क्लेश सारे मिटाये॥

ग्रामों में वृक्ष नीचे अति सुखकर है बालकों का जमाव।
क्रीड़ा के रंग में जो प्रकटित करते मोद के भूरि भाव॥

(५)

ले देखो, काष्ठ-बोझा निज निज सिर पै काष्ठ-जीवी बिचारे।
जाते हैं गीत गाते भवन, न गिनते वे क्लान्ति दुःखादि सारे॥
मांसाहारी अनारी पशु-वध जिनको खेल है मोद सार।
जाते हैं मोद से वे नर सर, वन में ढूँढ़ने को शिकार॥

(६)

ग्रामों के प्रान्त में हैं तरुतल करते ढोर बैठे जुगाली।
बैठे हाँ ग्वाल-बाल ध्वनि मुदित करें बाँसुरी की निराली॥
भूखा प्यासा अकेला पथिक तपन के ताप से क्लान्त होके।
छाया में वृक्ष की है गमन कर अहो बैठता श्रान्त होके॥

(७)

वृक्षों को, जन्तुओं को, सकल जगत को ताप दे दुःखदाई।
लेते मध्याह्न में हैं दिनकर कर खींच के नीर भाई॥
होते प्रत्यूष-बेला अगणित हिम के बिन्दु भू-सिञ्चनार्थ।
देता है सूर्य भू को खग-मृग-जग का मित्र होके यथार्थ॥

वर्षा ऋतु में ग्राम्य दृश्य

मेघाछन्न अकाश बहत मृदु पवन सुहावन।
कबहुँ कवहुँ रवि किरण-प्रभा सों दमकति नभ-घन ॥
हरित वर्णभू मृदुल मनोहर चहुँ मन मोहत।
पगडण्डिन की पाँति भाँति भाँतिन जहँ सोहत ॥
डाबर सरिता ताल नीरमय स्वच्छ मनोहर।
लहरावत नव शालि खेत खेतन महँ सुखकर ॥
चरत कतहुँ गा महिप वृषभ हय हिय हरसावत।
गल घण्टिन-धुनि सुखद करन मन सुख सरसावत ॥
चरत जात पशु परत शब्द सुनि सर सर सुन्दर।
तिहि के डर सों विपुल कीट-कुल भागत भर भर ॥
बगुला मैना काक ताक तिन उपर लगाये।
करि ढोरन की ओट जात सुख सों तिन खाये ॥
चाटत कहुँ गो पुलकि दूध बत्सन को प्यावत।
कतहुँ बैठि स्वच्छन्द ढोर सुख सों पगुरावत ॥
भरत चौकड़ी कतहुँ अश्व को वत्स सुहावत।
आवत माँ ढिग कबहुँ लगत पुनि दूर परावत ॥
कतहुँ भेड़ को झुण्ड मुण्ड नीचे करि धावत।
एक चरत, सब चरत, एक लखि सबहिं परावत ॥

कहुँ बैठे स्वच्छन्द ग्वाल मेंड़न के ऊपर।
मुरली मधुर बजाय सुधा सींचत हृद-भू पर॥
कतहुँ फावरे धरे कृषक कोउ मेंड़ बनावत।
कहुँ श्रम सों अति थके कृषक निज चिलम चढ़ावत॥
कोउ विशेष जल देखि खेत खनि नीर निकारत।
कीच सने तनु कतहुँ नीर सों कृषक पखारत॥
काँधे काँवर लिये घास को कोउ गृह आवत।
कोउ काटत कहुँ घास गीत प्रमुदित चित गावत॥
करत कतहुँ शिशु विविध रूप क्रीड़ा सुख पावत।
लरत काहु सों कोउ, कोउ किलकत, कोउ धावत॥
करि करि तिरछे अङ्ग कोउ पुलकित चित नाचत।
कोउ कर सों निज पेट कोउ तालियाँ बजावत॥
कहुँ सरला बालिका धूल को भवन बनावत।
कहुँ फिरकनियाँ देत कोउ मृदु स्वर सों गावत॥
निम्ब-डार लहराइ पकर तिहिं को कोउ झूलत।
काहू को कोउ हय बनाय तिहि पै चढ़ि फूलत॥
कहुँ युवकन की मृदुल मण्डली जुरी सुहावन।
करत कथा रस-रंग संग छाई उमंग तन॥
कहुँ पीपल के तरे बैठि ग्रामीण वृद्ध जन।
कहत शिशुन ढिग ग्राम्य-कथा इतिहास पुरातन॥

१८

माखनलाल चतुर्वेदी

(वि० सं० १९४५–वर्तमान)

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म बावई जिला होशंगाबाद में सं० १९४५ में हुआ था। इनका निवास-स्थान खण्डवा (मध्य प्रदेश) है। सन् १९२१ से ये बराबर राजनीतिक आन्दोलन में ही लगे हैं और कई बार जेल हो आये हैं। मध्य प्रदेश में इनका बहुत मान है। ये बड़े निर्भीक और स्पष्टवादी हैं। इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' है। इनकी कविता बहुत ही ओजस्विनी होती है। ये बहुत दिनों तक जबलपुर से निकलनेवाले "कर्मवीर" के सम्पादक रह चुके हैं। इनका लिखा 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक अधिक प्रसिद्ध है।

हृदय

(१)

धीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा,
धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में,
जन-दान में सानन्द जीवन-दान में॥
हट रहा जो दम्भ आदर प्यार से,
बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये।
डट रहा है जो प्रहारों के लिए,
विश्व की भरपूर मारों के लिए॥
देवताओं के यहाँ पर बलि करो,
दानवों का छोड़ दो सब दुःख भय।
"कौन है?"—यह है महान् मनुष्यता,
और है संसार का सच्चा 'हृदय'॥

(२)

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ?
दासता की हाय! हथकड़ियाँ पड़ीं।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी?
कण्ठ पर जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं॥

दास्य भावों के हलाहल से हरे !
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी,
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?
वह सुनो ! आकाशवाणी हो रही,
"नाश पाता जायगा तब तक विजय"
वीर?—"ना" धार्मिक ?—"नहीं" सत्कवि—"नहीं" ॥
देश में पैदा न हो जब तक 'हृदय' ॥

(३)

देश में बलवान भी भरपूर हैं,
और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं ।
हैं यहाँ धार्मिक ढले टकसाल के,
पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं ॥
ठोकरें खातीं मनों की शक्तियाँ
राम-मूर्ति बने खुशामद कर रहे ।
पूजते हैं देवता दबते नहीं;
दीन, दब्बू बन करोड़ों मर रहे ॥
"हे हरे ! रक्षा करो"—यह मत कहो
चाहते हो इस दशा पर जो विजय ।
तो उठो ढूँढ़ो छुपा होगा कहीं
राष्ट्र का बलि देश का ऊँचा 'हृदय' ॥

(४)

फूल से कोमल, छबीला रत्न से
वज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी,
सूर्य्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से॥
वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा
भूमि से बढ़कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म का औतार रूप शरीर जो
श्वास क्या संसार की वह स्फूर्ति है॥
मन महोदधि है वचन पीयूष हैं
परम निर्दय है बड़ा भारी सदय।
कौन है? है देश का जीवन यही
और है वह, जो कहाता है 'हृदय'॥

(५)

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे
विश्व में फैलीं भयानक भ्रान्तियाँ।
दंड अत्याचार बढ़ते ही गये
कट गये लाखों, मिटी विश्रान्तियाँ॥
गद्दियाँ टूटीं असुर मारे गये—
किस तरह? होकर करोड़ों क्रान्तियाँ।

तब कहीं है पा सकीं मातामही
मृदुल जीवन में मनोहर शांतियाँ ॥
बज उठीं संसार भर की तालियाँ
गालियाँ पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय ॥
पर हुआ यह कब ? जहाँ दीखा अहो !
विश्व का प्यारा कहीं कोई 'हृदय' ॥

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ ॥
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ ॥
मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

उन्मूलित वृक्ष

भला किया ! जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले ।
भला किया ! मीठे-फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले ॥
भला किया ! सींचो-पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें ।
भला किया ! दुनियाँ पलटा दी प्रबल उमङ्गों के बल में ॥

लो हम तो चल दिये,
नये पौधो-प्यारो ! आराम करो ।
दो दिन की दुनियाँ में आये,
हिलो-मिलो कुछ काम करो ॥

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते ।
वे नागर न यहाँ आते हैं, जो थे बागीचे आते ॥
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर, वनचर भी खा जाते हैं ।
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं ॥

दीन-बन्धु की कृपा
बन्धु, जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं ।
भूले-भटके कभी गुज़रना
हम वे ही फलवाले हैं ॥

जयशंकर 'प्रसाद'

(वि० सं० १९४६—वर्त्तमान)

बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं० १९४६ वि० में हुआ था। ये बारह वर्ष के ही थे कि इनके पिता बाबू देवीप्रसाद का, जो एक प्रसिद्ध दान-वीर थे, देहान्त हो गया। बाबू जयशंकर प्रसाद सत्रह साल के थे कि इनके बड़े भाई शंभुरत्न जी का भी देहान्त हो गया। इससे गृहस्थी और कार-बार का एक बड़ा बोझ इनके कंधों पर आ पड़ा। कार्य का इतना भार उठाते हुए भी ये साहित्य-सेवा में अनुरक्त रहते हैं।

कविता की ओर इनकी रुचि बाल्यावस्था से ही थी। ७-८ वर्ष की अवस्था से ही ये कविता करने लगे थे। ये एक प्रतिभाशाली कवि, सिद्ध-हस्त गल्प-लेखक और उच्च कोटि के नाटककार हैं। हिन्दी में छाया-वाद और भिन्न-तुकान्त कविता (Blank Verse) के जन्मदाता यही हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

कविता—१ काननकुसुम; २ प्रेम-पथिक (भिन्न-तुकान्त काव्य); ३ झरना (कविताओं का संग्रह); ४ आँसू।

गल्प —१ छाया; २ प्रतिध्वनि; ३ नवपल्लव; ४ आँधी; ५ आकाशदीप।

नाटक—१ राज्यश्री; २ विशाख; ३ अजातशत्रु; ४ जन्मेजय का नागयज्ञ; ५ स्कन्दगुप्त; ६ कामना; ७ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य।

उपन्यास—१ कंकाल।

चित्रकूट में श्रीराम

(१)

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे।
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे॥
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छन्द गगन में॥

(२)

चित्रकूट भी चित्र-लिखा-सा देख रहा था।
मंदाकिनी-तरंग उसी से खेल रहा था॥
स्फटिक-शिला-आसीन राम-वैदेही ऐसे।
निर्मल जल में नीलकमल-नलिनी हों जैसे॥

(३)

निज प्रियतम के संग सुखी थी कानन में भी।
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी॥
मृग-शावक के साथ मृगी भी देख रही थी।
सरल विलोकन जनकसुता से सीख रही थी॥

(४)

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है श्रीमान् भोगते सुख वन में भी॥
चन्द्रातप था व्योम, तारका रत्न जड़े थे।
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरुपुंज खड़े थे॥

(५)

शांत नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी।
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥
बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को।
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को॥

(६)

हिली आम की डाल चला ज्यों नवल हिंडोला।
आह कौन है? पंचम स्वर से कोकिल बोला॥
मलयानिल प्रहरी-सा फिरता था उस वन में।
शांति शांत हो बैठी थी कामद कानन में॥

(७)

राघव बोले देख जानकी के आनन को।
स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को?
नील मधुप को देख वहीं उस कंज-कली ने।
स्वयं आगमन किया, कहा यह जनक-लली ने॥

(८)

बोले राघव—प्रिये, भयावह से इस वन में।

शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में॥

कहा जानकी ने हँसकर—उसको है क्या डर।

जिसके पास प्रवीण धनुर्द्धर ऐसा है सहचर॥

(९)

कहा राम ने—अहा, महल मंदिर मनभावन।

स्मरण न होते, कहो, तुम्हें क्या वे अति पावन॥

रहते थे झनकार-पूर्ण जो तव नूपुर से,

सुरभिपूर्ण पुर होता था जिस अंतःपुर से॥

(१०)

जनक-सुता ने कहा—नाथ, यह क्या कहते हैं ?

नारी के सुख सभी साथ पति के रहते हैं॥

कहो उसे प्रियप्राण, अभाव रहा फिर किसका।

विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका॥

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को।
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को॥
गिरि-संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था।
कल कल नाद नहीं था उसमें मन की बात न कहता था॥
इसे जाह्नवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है।
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है॥
जला करेगा वक्षस्थल पर वहा करेगा लहरी में।
नाचेंगी अनुरक्त वीचियाँ रञ्जित प्रभा सुनहरी में॥
तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी।
सुप्त खगों की नीरव स्मृति कलरव से गान सुनावेगी॥
देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन में अनुरागी हो।
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व सम भागी हो॥
किसी माधुरी स्मित सा होकर यह संकेत बताने को।
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को॥

किरण

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किञ्जल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग ॥

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर-मुरली-सी फिर भी मौन ।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती-सी तुम कौन ॥

अरुण-शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?
उषा के अञ्चल में अश्रान्त ॥

भला, उस भोले मुख को छोड़
चली हो किसे चूमने भाल ।
खेल है कैसा—या है नृत्य ?
कौन देता है सम पर ताल ॥

कोकनद मधु-धारा सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर ॥

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन ?
मिलाती हो उससे भूलोक।
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध
बना दोगी क्या विरज, विशोक ॥

सुदिनमणि, वलय-विभूषित उषा-
सुन्दरी के कर का संकेत।
कर रही हो तुम किसको मधुर
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ॥

चपल, ठहरो—कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त।
सुमन–मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त ॥

ॐ

२०

रामनरेश त्रिपाठी

(वि० सं० १९४६—वर्त्तमान)

पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म कोइरीपुर, जिला जौनपुर, में सं० १९४६ वि० में हुआ था। इनकी कविता में राष्ट्रीय भाव प्रायः अधिक रहते हैं। ये प्राकृतिक वर्णन अच्छा करते हैं। इनकी कविता बहुत भावमयी होती है। इनकी भाषा संस्कृतमय किन्तु परिमार्जित और जोशीली होती है। ये गद्य के भी अच्छे लेखक हैं। गद्य की कई पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं। बाल-साहित्य को उन्नत करने में इनका विशेष प्रयत्न रहा है। ये हिन्दी मन्दिर प्रयाग के स्वामी और उच्च कोटि के प्रकाशक हैं। इनकी विशेष प्रसिद्धि 'कविता कौमुदी' से हुई है। इस के ६ भाग हैं। प्रत्येक भाग में भिन्न भिन्न विभागों और भाषाओं के कवियों की संक्षिप्त जीवनी तथा कविताओं का संग्रह है। इनके प्रसिद्ध काव्य "मिलन" तथा "पथिक" हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ मिलन; २ पथिक; ३ स्वप्न।

संगृहीत—कविता कौमुदी (६ भाग)

कविता-संग्रह—मानसी।

स्वदेश-प्रेम

(१)

अतुलनीय जिनके प्रताप का
साक्षी है प्रत्यक्ष दिवाकर।
घूम-घूमकर देख चुका है
जिनकी निर्मल कीर्ति निशाकर॥
देख चुके हैं जिनका वैभव
ये नभ के अनन्त तारागण।
अगणित बार सुन चुका है नभ
जिनका विजय-घोष रणगर्जन॥

(२)

शोभित है सर्वोच्च मुकुट से
जिनके दिव्य देश का मस्तक।
गूँज रही हैं सकल दिशाएँ
जिनके जय-गीतों से अब तक॥
जिनकी महिमा का है अविरल
साक्षी सत्य-रूप हिम-गिरि-वर।
उतरा करते थे विमान-दल
जिसके विस्तृत वक्षःस्थल पर॥

(३)

सागर निज छाती पर जिनके
अगणित अर्णव-पोत उठाकर।
पहुँचाया करता था प्रमुदित
भूमण्डल के सकल तटों पर॥
नदियाँ जिनकी यश-धारा सी
बहती हैं अब भी निशि-वासर।
ढूँढ़ो, उनके चरण-चिह्न भी
पाओगे तुम इनके तट पर॥

(४)

विषुवत्-रेखा का वासी, जो
जीता है नित हाँफ-हाँफकर।
रखता है अनुराग अलौकिक
वह भी अपनी मातृ-भूमि पर॥
ध्रुव-वासी, जो हिम में, तम में
जी लेता है काँप-काँपकर।
वह भी अपनी मातृभूमि पर
कर देता है प्राण निछावर॥

(५)

तुम तो, हे प्रिय बन्धु, स्वर्ग-सी
सुखद, सकल विभुवों की आकर।
धरा-शिरोमणि मातृ-भूमि में
धन्य हुए हो जीवन पाकर॥
तुम जिसका जल-अन्न ग्रहणकर
बड़े हुए लेकर जिसका रज।
तन रहते कैसे तज दोगे
उसको, हे वीरों के वंशज॥

(६)

जब तक साथ एक भी दम हो,
हो अवशिष्ट एक भी धड़कन।
रखो आत्म-गौरव से ऊँची
पलकें, ऊँचा सिर, ऊँचा मन॥
एक बूँद भी रक्त शेष हो
जब तक तन में हे शत्रुञ्जय।
दीन वचन मुख से न उचारो
मानो नहीं मृत्यु का भी भय॥

(७)

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का,
मृत्यु एक है विश्राम-स्थल ।
जीव जहाँ से फिर चलता है
धारण कर नवजीवन-संबल ॥
मृत्यु एक सरिता है, जिसमें
श्रम से कातर जीव नहाकर ।
फिर नूतन धारण करता है,
काया-रूपी वस्त्र बहाकर ॥

(८)

सच्चा प्रेम वही है, जिसकी
तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर ।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है
करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥
देश-प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है
अमल असीम त्याग से विलसित ।
आत्मा के विकास से जिसमें
मनुष्यता होती है विकसित ॥

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वचन में॥
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥
बन कर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥

दुख में रुला-रुला कर तूने मुझे चेताया।
मैं मस्त हो रहा था तब हाय, अंजुमन में॥
बाजे बजा बजा-कर मैं था तुझे रिझाता।
तब तू लगा हुआ था पतितों के संघटन में॥

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में॥
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के।
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में॥
हरिचन्द और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में॥

मैं सोचता तुझे था रावण की लालसा में।
पर था दधीच के तू परमार्थ-रूप तन में॥
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फरहाद कोहोकन में॥
'क्रीसस' की 'हाय' में था करता विनोद तू ही।
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन में॥
प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क़दर है।
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं शरन में॥
तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में॥
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में।
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में॥
हे दीन-बन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू।
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में॥
कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में॥

२१

गोपालशरणसिंह

(वि० सं० १९४८—वर्तमान)

ठाकुर गोपालशरणसिंह का जन्म सं० १९४८ वि० में रीवाँ राज्य के एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। इनके पिता लाल जगतबहादुरसिंह एक बड़े दयालु और धार्मिक व्यक्ति थे। वे संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे; अतः ठाकुर गोपालशरणसिंह को भी हिन्दी की साधारण योग्यता हो जाने पर संस्कृत का अभ्यास कराया गया। ये १२ वर्ष के थे, जब इनके पिता का देहान्त हो गया। ये रीवाँ राज्य के प्रथम श्रेणी के सुप्रतिष्ठित इलाकेदारों में हैं। आजकल यही इलाके के स्वामी हैं। इनसे प्रजा बड़ी सन्तुष्ट है।

ठाकुर साहब पहले एक-आध वर्ष तक ब्रज भाषा में कविता करते थे। सन् १९१२ से साधारण बोल-चाल की भाषा या खड़ी बोली में कविता करने लगे। सरस और सरल होने के कारण इनकी कविताएँ विशेष लोक-प्रिय हो गई हैं। ये एक उच्च कोटि के कवि हैं। इनकी कविताओं का संग्रह 'माधवी' नाम से छपा है।

व्रज-वर्णन

(१)

आते जो यहाँ हैं व्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मनभाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं।
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुधा-सिन्धु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया-मैया टेरते हैं, गैया को चराते हैं॥

(२)

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग,
उर-कलियों में सदा व्रज-नर-नारी की।
कण-कण में है यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मञ्जु मनोहारी मूर्ति मञ्जुल मुरारी की।
किस को नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देख कर गोवर्धन-धारी की।
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा विपिन-विहारी की॥

(३)

अङ्कित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-वल्लियों में और फूल-फल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में।
कल-कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जा के सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मञ्जु मानस-दुकूल में॥

(४)

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यही,
रुचिर रसालध्वनि नूपुरों के जाल की।
भूल सकता है कोई ब्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चारु वनमाल की?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मञ्जु मन्द-मन्द नन्द-नन्दन की चाल की।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा,
छवि मन-भाई बाल-मदनगोपाल की॥

(५)

अब भी मुकुन्द रहते हैं ब्रज-भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर-फेर के।
छिपे उर-कुञ्ज में हैं वृन्दावन-वासियों के,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर-हेर के।
चित्तवृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी,
रहतीं उन्हीं के आस-पास घेर-घेर के।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानों हैं बुलाते श्याम श्याम टेर-टेर के॥

(६)

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में,
ब्रज-वनिताएँ कैसे बैठी रहें मान में।
किस भाँति आज ब्रजराज से करें वे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में।
मन में बसी है मूर्ति उसी मनमोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में।
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही,
कैसे न सुनेंगी उसे उँगली दे कान में॥

(७)

जिसने विपत्तियों से ब्रज को बचाया सदा,
दिव्य बल-पौरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में।
सब को सदैव दिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुःख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मन-भाया है समाया वृन्दावन में॥

(८)

वही मञ्जु मही वही कलित कलिन्दजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं।
वही वृन्दावन है निकुञ्ज, द्रुम-पुञ्ज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं॥
वही गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज-बाज आज भी ललाम हैं।
ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ नाम घनश्याम हैं॥

(९)

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी को सुध श्याम की दिलाती है।
फूली-फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनाते सदा,
कूक-कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी-भरी दृग-सुखदायी मनभाई मञ्जु,
यह व्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है॥

(१०)

सुखद सजीली शस्य-श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम-भाव से।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके,
सीस पर चढ़ाते उसे भक्तजन चाव से।
पाप-पुञ्ज-नाशी उर-कमल-विकासी हुआ,
यमुना-सलिल बस उनके प्रभाव से।
कर दिया पूरा उसे व्रज वृन्दावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से॥

वह छवि

(१)

मंजुल मयङ्क में, मयङ्क-मुखी-आनन में,
वैसी निष्कलङ्क कांति देती न दिखाई है।
दृग झिप जाते, देख पाते हम कैसे उसे,
ऐसी प्रभा किसने प्रभाकर में पाई है।
न्यारी तीन लोक से है प्यारी सुखकारी भारी,
सारी मनोहारी छटा उसमें समाई है।
जिसको विलोक फीकी शरद-जुन्हाई होती,
वह मनभाई छवि किसको न भाई है॥

(२)

सुषमा उसी की अवलोक के सुधाकर में
रूप-सुधा पीकर चकोर न अघाते हैं।
घन की घटा में नव निरख उसी की छटा
मंजुल मयूर होते मोद-मद-माते हैं।
फूलों में उसी की शोभा देख के मिलिंद-वृन्द
फूले न समाते, गुन गुन गुण गाते हैं।
दीप्यमान दीपक में देख वही छवि बाँकी
प्रेम से प्रफुल्लित पतंग जल जाते हैं॥

(३)

कंज-कलिका में नहीं सुषमा मयंक की है,
कोमलता कंज की मयंक ने न पाई है।
चंपक-कली में न सुवर्ण की सुवर्णता है,
चंपक की चारुता सुवर्ण में न आई है।
रत्न की रुचिरता में, मणि की मनोज्ञता में
एक दूसरे की प्रभा देती न दिखाई है।
सबकी निकाई, सुघराई, मोददायी महा
ललित लुनाई उस छवि में समाई है॥

(४)

वन-उपवन में, सरोज में, सरोवर में,
सुमन-सुमन में, उसी की सुघराई है।
चंपक चमेलियों में, नवल नवेलियों में,
ललित लताओं में भी उसकी लुनाई है।
देख पड़ती है रंग-रंग के विहंगमों में
सुषमा उसी की कुञ्ज-कुञ्ज में समाई है।
सब ठौर देखो, वह छवि दिखलाई देती
उर में समाई तथा लोचनों में छाई है॥

२२

बदरीनाथ भट्ट

(वि० सं० १९४८–वर्त्तमान)

पं० बदरीनाथ भट्ट का जन्म आगरे में सं० १९४८ वि० में हुआ था। इनके पिता पं० रामेश्वर भट्ट संस्कृत के विद्वान् और साहित्य के मर्मज्ञ पंडित थे। इन्होंने सन् १९११ ई० में बी० ए० परीक्षा पास की थी। तब से ये हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। दो ढाई वर्ष तक ये इण्डियन प्रेस में हिन्दी साहित्य-विभाग के अध्यक्ष रहे और वहाँ से 'बाल-सखा' नाम की पत्रिका निकलवाई। इस समय ये लखनऊ युनिवर्सिटी में हिन्दी के लेक्चरार हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

प्रहसन—१ चुंगी की उम्मेदवारी; २ विवाह-विज्ञान; ३ लबड़धोंधों।

नाटक—१ चन्द्रगुप्त; २ वेनचरित्र।

समालोचना—१ वेणीसंहार की आलोचना।

विविध विषय—१ हिन्दी; २ मनोरञ्जन।

प्रार्थना

अशरण-शरण ! शरण हम तेरी ।
भूले हैं मग विपिन सघन है, छाई गहन अँधेरी ॥
स्वार्थ-समीर चली ऐसी सब सुमन-सुमन बिखराये ।
हा सद्भाव-सुगन्धि चुराई, प्रेम-प्रदीप बुझाये ॥
कलह-कण्टकों से छिदवाया, सुख-रस सभी सुखाया ।
भ्रातृ-भाव के बन्धन तोड़े, अपना किया पराया ॥
लख दुर्दशा हमारी नभ ने ओस-बूँद ढलकाई ।
वह भी हम पर गिर कर फूटी इधर उधर कतराई ॥
करुणा-सिन्धु ! सहारा तेरा, तू ही है रखवाला ।
दीन अनाथ हुए हम हा हा तू दुख हरनेवाला ॥
ऐसा कृपा-प्रकाश दिखा दे, अपनी दशा सुधारें ।
आत्म-त्याग का मार्ग पकड़ लें, देश-प्रेम उर धारें ॥
विस्तारें जातीय एकता भेद विरोध बिसारें ।
भारत माता की जय बोलें, जल-थल-नभ गुञ्जारें ॥

सूखी पत्ती

पड़ी भूमि पर ठोकर खाती, पीला तेरा रंग हुआ है।
सब रस रूप समय ने लूटा, चुरमुर सारा अंग हुआ है॥
जिस पर रहती थी सवार नित, घुल-घुल कर बातें करती थी।
वही हवा अब धूल फेंकती, उलटा सारा ढंग हुआ है॥
हुई चूर अभिमान-नशे में, सब पर हँसती भूम रही थी।
कौन पूछता है अब तुझको, वह सुख-सपना भंग हुआ है॥
सब के सिर पर चढ़ी हुई थी, अब सब पैरों तले कुचलते।
ऊँचे चढ़ कर नीचा देखा, सभी रंग बदरंग हुआ है॥
जिस झौंरे पर झोटे लेती, फूल-फूल पर भूल रही थी।
उसने भी है तुझे भुलाया, सारा प्रेम कुरंग हुआ है॥
अब क्या जुड़ सकती है तरु में? किस की है तू कौन है तेरा।
इस दुनिया में कोई किसी के दुख में कभी न संग हुआ है॥
दुख क्या है? 'अभिमान-प्रतिध्वनि' है आशा का रूप निराशा।
है जीवन का हेतु मरण ज्यों मणि का हेतु भुजंग हुआ है॥

—:o:—

मोहन !

यह स्वार्थ-तम का परदा अब तो उठा दे मोहन ।
अब आत्म-त्याग-रवि की आभा दिखा दे मोहन ।।
पूरब में फैल जावे शुभ देश-भक्ति-लाली ।
सु-समीर एकता का अब तो चला दे मोहन ।।
मृदु प्रेम की सुरभि को पहुँचा दे हर तरफ़ तू ।
मन-पल्लवों में आशा-बूँदें बिछा दे मोहन ।।
सद्भाव-पंकजों को अब तो जरा हँसा दे ।
जातीयता-नलिनि का मुखड़ा खिला दे मोहन ।।
द्विज-वृन्द वन्दना कर तेरा सुयश सुनावें ।
वैरी उलूक-गण को अब तो छका दे मोहन ।।
यह द्वेष का निशाचर हमको सता रहा है ।
सत्कर्म-शर से इसकी गर्दन उड़ा दे मोहन ।।
आलस्य-चोर भी है पीछे पड़ा हमारे ।
कर्त्तव्य-दण्ड से तू उसको डरा दे मोहन ।।

माली से

(१)

हरी भरी फुलवारी है, मत इसे छोड़कर जा माली।
तूने ही दिन-रात परिश्रम करके इसे लगाया है।
सोता था सौन्दर्य यहाँ पर तूने उसे जगाया है॥
संचित कर सामान, सुरुचि से तूने इसे सजाया है।
इसकी शोभा के आगे नन्दन-वन भी शरमाया है॥
इसकी कीर्ति तुझी से है, मत पीठ मोड़कर जा माली।
हरी भरी फुलवारी है, मत इसे छोड़कर जा माली॥

(२)

इस उपवन के गुल्म-लता-फल-फूलों को तू प्यारा है।
उन सबका तू जीवन-धन है, सभी प्रकार सहारा है॥
बहती तेरे सुख में सुख की, दुख में दुख की धारा है।
तूने इन पर और इन्होंने तुझ पर सब-कुछ वारा है॥
हो न कठोर, पुराना नाता यों न तोड़कर जा माली।
हरी भरी फुलवारी है, मत इसे छोड़कर जा माली॥

(२)

निर्मोही वन इन्हें छोड़कर चला अगर तू जावेगा।
तनिक विचार कि ऐसा करके तू ही क्या सुख पावेगा॥
तड़प-तड़पकर ये बेचारे दुख से मुरझा जावेंगे।
तुझको भी कुछ लाभ न होगा, ये भी शान्ति न पावेंगे॥
इसी लिए मत एक बार यों प्रीति जोड़कर जा माली।
हरी भरी फुलवारी है, मत इसे छोड़कर जा माली॥

२३

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

(वि० सं० १९५०—वर्त्तमान)

ठाकुर गुरुभक्तसिंह का जन्म जमानिया जिला गाजीपुर में सं० १९५० में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. एल-एल. बी. की परीक्षा पास करके कुछ दिनों तक ये बलिया में वकालत करते थे। इनकी बचपन से ही कविता की ओर रुचि है। इनका उपनाम 'भक्त' है। पहले इन्होंने उर्दू में कुछ कविताएँ रची थीं; पर बाद में हिन्दी की ओर अधिक झुकाव हो गया। आजकल ये गाजीपुर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सेक्रेटरी हैं। इनकी कविता सुन्दर और भावमयी होती है। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में दक्ष हैं।

इनकी कविताओं के संग्रह ये हैं—

१ सरस-सुमन; २ कुसुम-कुञ्ज; ३ वंशी-ध्वनि;

ओस

मोती मुझको बतलाते हो, वह कठोर है नहीं सजल।
द्रवित हृदय-सी मैं सजला हूँ नव पल्लव से भी कोमल॥
आती हूँ आकाश से प्रति-निशि, छिपता रवि जब अस्ताचल।
गाकर नीरव गीत नाचती नहीं अप्सरा हूँ चंचल॥

(२)

भू पर तुरत लोट जाती हूँ, पवन छेड़ ज्यों ही करता।
मचल गई तो मचल गई मैं, उठती है फिर कौन भला॥
मुझे आबरू है बस प्यारी, पानी है मुझको रखना।
गले-गले और गली-गली बन हार नहीं मुझको फिरना॥

(३)

शस्य-श्यामला पर मैं लेटी, सोई सुन्दर फूलों में।
कोमल नव पल्लव पर चमकी, सरस नदी के कूलों में॥
रँग बिगाड़ देती तितली का, मिली जो मुझसे भूलों में।
पुष्पों के सँग रही झूलती, चन्द्रकिरण के झूलों में॥

(४)

पड़ी देख मुझ को निद्रा में ऊषा मुझे जगाती है।
सत्र रंग की विमल चूनरी सूर्य-किरण पहनाती है॥
रंगों में मैं भरी चमकती, दुनिया सब ललचाती है।
ऊषा मुझ को नभ-मण्डल में भोर उठा ले जाती है॥

(५)

फिर भी मैं विहार करने को नित्य स्वर्ग से आती हूँ।
कुञ्जों में कुछ रात काटकर तारों-सँग छिप जाती हूँ॥
तुम कठोर हो मुझे न छूना यही सोच मैं रोती हूँ।
दुखिया को आँखों से निकला सजल सजीवन मोती हूँ॥

जीवन-यात्रा

छोटी सी नौका है मेरी करना है भवसागर पार।
नहीं सहायक माँझी कोई बस है वह मेरा पतवार॥
सन्ध्या कुछ-कुछ हो आई थी सूर्य-तेज था मन्द हुआ।
तब भी माया में मैं भूला फिरा किया स्वच्छन्द हुआ॥
खाते रहे थपेड़े जल के गाते रहे मनोहर गीत।
अन्धकार ने घेर लिया जब तब काँपे होकर भयभीत॥
रात्र अँधेरी लहर घहरती सूझे वारापार न था।
लड़ते रहे बहुत झोंकों से बढ़ने का कुछ तार न था॥
दिन में झिंझरी रहे खेलते भूले सुध घर जाने की।
काली निशा दिशा नहिं सूझे, बात रही पछताने की॥
नैया में भी जल भर आया, आँख भरी औ हाथ भरे।
मोहन तुझ पर छोड़ दिया है तू बोरे या पार करे॥

२४

सियारामशरण गुप्त

(वि० सं० १९५२—वर्त्तमान)

बाबू सियारामशरण गुप्त का जन्म सं० १९५२ वि० में चिरगाँव (जिला झाँसी) में हुआ था। ये बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं और उन्हीं के साथ रहते हैं। ये अच्छे प्रतिभाशाली कवि हैं। इनकी कविताओं में करुण रस की अधिकता रहती है। इनकी भाषा संस्कृतमयी किन्तु शुद्ध और सुबोध होती है।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

१ मौर्य-विजय; २ अनाथ; ३ आर्द्रा और ४ दूर्वादल (कविताओं के संग्रह)।

विश्वदेव

(१)

हे विश्वदेव ! दिये दिखाई आज तुम किस वेश में ।
देखा तुम्हें प्राची-गगन में, पुण्य-पूर्ण स्वदेश में ।।
आलोक से उज्ज्वल तुम्हारा नील नभ ही भाल है ।
निस्तब्ध आशिष सा अभय-कर यह हिमाद्रि विशाल है ।।

(२)

सागर चरण छू कर तुम्हारी चरण-रज है धो रहा ।
हितकर हृदय पर जाह्नवी का हार शोभित हो रहा ।।
देखा हृदय को खोल कर बाहर तुम्हें सोल्लास है ।
इस प्रिय सनातन देश में पाया तुम्हारा वास है ।।

(३)

हमने सुना स्तवमन्त्र तव गत तपोविपिनों में अहा !
मथकर अमर-ऋषि हृदय जो जग में ध्वनित है हो रहा ।।
रविरूप में प्रातः समय हे देव ! उदयाकाश में ।
तुम दीखते हो जब प्रथित कर मुख सुवर्ण प्रकाश में ।

(४)

प्राचीन नीरव कण्ठ से उस समय गायत्री-कथा ।
उठती हुई सुनते यहाँ वन-विहग-रव-मय सर्वथा ।।

हे देव ! है हमने सुना बाहर खड़े होकर अहा !
तव गान भारतवर्ष में कब से न जाने हो रहा ॥

(५)

दृग मूँद कर हमने सुना जाने न कब किस वर्ष से ।
तव सुखद शंख बजा रहा भारत हृदय से, हर्ष से ॥
जो लीन कर देता धरा का प्रबल रण-हुङ्कार है ।
जो भेद जाता वणिकगण का विपुल धन-झङ्कार है ॥

(६)

अविरुद्ध गति निर्विघ्न जिसकी उच्च और उदार है ।
गुञ्जित गगन करता हुआ उठता अहा ओंकार है ॥
भारत-हृदय रूपी सुविकसित विमल शुभ्र सरोज में ।
तव पद तले वाणी खड़ी है एक अद्भुत ओज में ॥

(७)

आनन्दमय उल्लासमय सङ्गीत की शुभ तान से ।
आकाश उथला जा रहा है एक अनुपम गान से ॥
देखा समय को सोच कर दृग मूँद एक निमेष में ।
तव विजय का शुभ शङ्ख है बजता हमारे देश में ॥

अभिसार

तेरे लिए प्रिये, यह मेरा जीवन है अभिसार ,
मार्ग में घन-तम है दुर्वार ।
चलता हूँ प्रति क्षण प्रति पल मैं ,
कम्पित-वक्ष विकल, विह्वल मैं ,
तज संकोच-विचार ,
हृदय पर रख कर भीषण-भार ।
तेरे लिए प्रिये, यह मेरा जीवन है अभिसार ।
नित्य नवीन उषा आती है सज सोने का थाल ,
बिछाकर मनोमुग्धकर जाल ,
जानें क्या कितनी लाती वह ,
किसको क्या-क्या दे जाती वह ,
निज स्वर्णच्छवि डाल ,
नहीं रुकती है मेरी चाल ।
नित्य नवीन उषा आती है सज सोने का थाल ।
आती है गोधूलि नित्य ही दिन-भर की सी क्लान्ति ,
वहन कर भूली-भटकी भ्रान्ति ,
एक दीप रख नभ-प्रांगण में ,
बह जाती है मुक्त पवन में ,

पाकर सुखमय शान्ति,
नहीं मिटती इस उर की क्रान्ति।
आती है गोधूलि नित्य ही दिन-भर की सी क्लान्ति।

मुक्तकुन्तला सघन निशा जब नेत्रों में भर नीर,
छोड़कर दीर्घ श्वास-समीर,
अशिव अवेश बनाकर आती,
चंचलाग्नि उर पर दहकाती,
करके मुझे अधीर,
हृदय में कौन छेदता तीर।
मुक्तकुन्तला सघन निशा जब नेत्रों में भर नीर।

दिन-भर उठा-गिरा करता जब कठिन कर्म-कल्लोल,
प्राप्त बाधा का बन्धन खोल,
लाभ-हानि की उस क्यारी में,
उजियाली में, अँधियारी में,
मेरा हृदय विलोल,
सुना करता है किसका बोल?
दिन-भर उठा गिरा करता जब कठिन कर्म-कल्लोल।

ज्ञात नहीं, कितना चलना है, है कितना दिनमान,
कहाँ है तेरा वासस्थान।

होऊँ सुप्त कि होऊँ जाग्रत,
यह यात्रा रहती है अविकृत,
अविरत एक समान,
चलूँगा मैं योंही मुदमान!
ज्ञात नहीं, कितना चलना है, है कितना दिनमान।

२५

वियोगी हरि

(वि० सं० १९५३—वर्तमान)

श्री वियोगी हरि का पूर्व नाम पंडित हरिप्रसाद द्विवेदी था। इनका जन्म छत्रपुर राज्य (बुन्देलखण्ड) में सं० १९५३ विक्रमी की रामनवमी

को हुआ था। ये अभी ६ मास के भी न हुए थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया। तब से ये अपनी ननिहाल में रहने लगे। आरम्भ से ही इन्हें तुलसीदास की विनयपत्रिका और श्रीमद्भागवत परम प्रिय हैं। इन्होंने सन् १९१५ में मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की और तब ये दर्शन शास्त्र की ओर झुके। लगभग १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने प्रेम-शतक, प्रेम-पथिक और प्रेम-परिषद नामक तीन पुस्तकें प्रेम-धर्म पर लिखीं। इन्होंने आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की है। ब्रज भाषा से इनको विशेष प्रेम है। इनकी कविताएँ प्रायः ब्रज भाषा में ही होती हैं। ये गद्य-काव्य लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। इन्होंने कई वर्षों तक सम्मेलन पत्रिका का संपादन किया है। वीर सतसई पर इन्हें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था जो इन्होंने तुरन्त सम्मेलन को ही दान कर दिया था। आज-कल ये 'हरिजन' देहली के सम्पादक हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

काव्य—१ प्रेम-पथिक; २ प्रेमाञ्जलि; ३ प्रेम-परिषद; ४ वीर सतसई; ५ अनुराग वाटिका; ६ कवि-कीर्त्तन; ७ मेवाड़-केशरी; ८ शुकदेव।

संपादित—१ ब्रजमाधुरीसार; २ संक्षिप्त सूरसागर; ३ विहारी संग्रह; ४ सूरपदावली; ५ मीराबाई।

नाटक—१ वीर हरदौल; २ श्री छद्मयोगिनी (नाटिका)।

गद्य—१ साहित्य-विहार; २ अन्तर्नाद; ३ ठंढे छींटे।

टीका—विनय-पत्रिका पर हरितोषिणी नाम की एक बृहत् टीका।

केसरी

(१)

एकछत्र वन कौ अधिप पञ्चाननही एक ।
गज-शोणित सों आपुहीं कियौ राज-अभिषेक ॥

(२)

काँपतु कोपित केहरी मुहुँ बायें विकराल ।
रहे धधकि अङ्गार कै प्रलय काल के लाल ॥

(३)

छिन्न-भिन्न है उड़ति क्यों मद-भौंरनु की भीर ?
दार्‍यौ कुम्भ करीन्द्र कौ कहूँ केहरी वीर ॥

(४)

दन्ति-कुंभ-शोणित-सनी डसति सिंह-दृढ़-डाढ़ ।
मनु मङ्गल ससि-अङ्क कों दिय आलिङ्गनु गाढ़ ॥

(५)

अहे मधुप ! गज-गंड-मदु पीजो सोचि-विचारि ।
छिन में ही या कुम्भ कों दैहै सिंह विदारि ॥

(६)

वार वार अँगराय क्यों सिंह जँभाई लेत ?
मद-माते गज-यूथ कों पुनि-पुनि करतु सचेत ॥

(७)

भाजि भाजि गजराय ! अब, वारि-विहार विहाय ।
गरभ गिराय मृगीन के, गयौ आय बनराय ॥

(८)

कमल केलि करि मीन सँग, करत कहा करिराज !
गिरि तें गाजत गाज-लौं रह्यौ उतरि मृगराज ॥

(९)

झपटि सिंह गज-कुंभ ज्यौं दपटि विदार्‌यौ धाय ।
रकत-रँगी मुकुता-कनी रहीं सुकेसर छाय ॥

(१०)

पराधीन सबु देखियतु, बल-बीरज तें हीन ।
या कानन में, केसरी ! इक तूँही स्वाधीन ॥

(११)

नहिं पावसु, नहिं घन-घटा, भई किते यह घोर ॥
करतु मत्त मृगराजु कहुँ, बिसें वीस वन रोर ॥

(१२)

यौं मति कीजौ रोर अब, घन ! केहरि लौं आय ।
या गयन्दिनी को अरे ! गरभु न कहुँ गिरि जाय ॥

गुरु गोविन्दसिंह

(१)

जय अकाल-आनन्द-भव नव मकरन्द-मलिन्द।
शक्ति-साधना-सिद्धवर, असि-धर गुरु गोविन्द ॥

(२)

पराधीनता-सिंधु मधि डूबत हिन्दू हिन्द।
तेरे कर पतवार अब, पतधर गुरु गोविन्द ॥

(३)

धर्म-धुरन्धर, कर्म-धर, बलधर, बखत-बलन्द।
जयतु धनुर्धर, तेग-धर, तेग बहादुर-नन्द ॥

(४)

असि-ब्रत धार्‌यौ धर्म पै, उमँगि उधार्‌यौ हिन्द।
किये सिक्ख तें सिंह सब, धनि-धनि गुरु गोविन्द ॥

(५)

दसवें गुरु के राज में रही हिन्द-पत-लाज।
औरँगशाही पै गिरी वाह गुरू की गाज ॥

(६)

बेटी राखी आर्य-कुल, चोटी राखी सीस।
राखी गुरू गोविन्द कै औरँग शाही खीस ॥

(७)

रहती कहँ हिन्दून की ऐंड, आन अरु बान।
ढाल न होती आनि जो गुरु गोविन्द-कृपान॥

(८)

संघ-शक्ति-व्रत-मित्र, कै नृपगत विप्लव-मित्र।
कै पवित्र बलि-चित्र-पट गुरु गोविन्द-चरित्र॥

(९)

दिखी न ईजी जाति कहुँ, सिक्खन-सी मजबूत।
तेग बहादुर-से पिता, गुरु गोविंद-से पूत॥

विनय

कैसेहुँ जौ अपबस करि पाऊँ।
जीवन-धन, तौ तुम्हैं खोलि हिय जिय कौ मरम सुनाऊँ॥
या उर अन्तर प्रेम-कुटी रचि पल-पाँवड़े बिछाऊँ।
भाव-सेज सजि अति मृदु तापै नाथ! तुम्हैं पौढ़ाऊँ॥
तहँ पलोटि पद-पदुम तुम्हारे ललकि-ललकि बलि जाऊँ।
लाय लाय शीतल रज नैननि जिय की जरनि सिराऊँ॥
बूड़ि तुम्हारे स्याम-रङ्ग मधि मानस-पटहिं रँगाऊँ।
सहज पखारि पुरातन कारिख पल में धवल बनाऊँ॥
ललित त्रिभंगी गति नट-नागर! उमँगि उमँगि उर ध्याऊँ।
कठिन कुटिल गति या चित की, प्रभु, कोमल सरल सधाऊँ॥
बँधिकै तुम्हरी अलक-डोरि सों, हरि, भव-फंद छुड़ाऊँ।
लहि मुसकान-माधुरी मोहन, षट-नव रसनि भुलाऊँ॥
सींचि-सींचि तुव कृपावारि नित करम-कुखेत सुखाऊँ।
लाल, तुम्हारे चपल चखनि बिच, रमि इत-उत नहिं धाऊँ॥
वेदवाद ज्ञानादि वादि कै प्रेम-प्रथा प्रगटाऊँ।
हरि लै बीन, लीन ह्वै तुव छवि, नित नव गुन-गन गाऊँ॥

हाँ, हम सब पंथन तें न्यारे।
लीनों गहि अब प्रेम-पन्थ हम और पन्थ तजि प्यारे॥
नायँ कराय सकैं पट दरसन दरसन मोहन तेरो।
दिन दूनो नित कौन बढ़ावै या हिय मांझ अँधेरो॥
तौ अभेद को भेद कहा ए वेद बापुरे जानैं।
वा झिलमिली झलक को नीरव रहस कहा पहिचानैं॥
सूत्र-ग्रन्थ जे नहिं निरवारत बिरह-ग्रन्थ पिय तेरो।
पचि तिन में सुरझत सपनेहुँ नहिं उरझन बढ़ति घनेरो॥
सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।
ताकी धर्म-अधर्म व्यवस्था कौन स्मृति करि पाई॥
जो तुव ललित रूप को लालन बरन भेद नहिं पावै।
ऐसे नीरस बरन-धर्म कों पालि कौन पछितावै॥
जो पै रस-आश्रम नहिं सेयौ अति झीनो रँग-भीनो।
नाहक आश्रम-धर्म साधि कै कौन धर्म हम कीनो॥
याही तें सब वेद-विहित अरु लोक-धर्मह्‌ त्यागे।
तो छवि-छाक-छके हरि अब तो नेह-सुधा-रस पागे॥

ॐ

२६

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(वि० सं० १९५५—वर्त्तमान)

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी का जन्म महिषादल स्टेट (मेदिनीपुर-बंगाल) में सं० १९५५ में हुआ था। कविता की ओर बचपन से ही इनकी रुचि थी। मैट्रिकुलेशन में पहुँच कर इनकी मनोवृत्ति का झुकाव दर्शन की ओर हुआ। दो वर्ष तक (सं० १९७८-८०) ये 'समन्वय' के सम्पादक रहे हैं। इन्हें संस्कृत और बँगला का अच्छा ज्ञान है। पहले ये संस्कृत और बँगला में कुछ कविता करते थे। बाद में इनकी प्रवृत्ति हिन्दी की ओर हुई। महिषादल के राजा की इन पर विशेष कृपा रहती है। 'निराला' जी को संगीत की शिक्षा उनके दरबार में ही मिली थी। खड़ी बोली में अनुकांत कविता लिखने में इन्होंने पर्य्याप्त यश पाया है। ये अपनी शैली के निराले कवि हैं। इनका उपनाम भी 'निराला' है। हिन्दी साहित्य में नवीन युग उपस्थित करनेवालों में ये भी एक हैं। इनकी कविताओं का संग्रह 'अनामिका' नाम से छपा है। गद्य के भी ये अच्छे लेखक हैं। गद्य में इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

जलद के प्रति

जलद नहीं, जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को।
तपन - ताप - सन्तप्त तृषातुर
तरुण-तमाल - तलाश्रित को॥
पय - पीयूष - पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन! न्याय निराला है॥
भौंहें तान दिवाकर ने जब
भू का भूषण जला दिया।
माँ की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया॥
वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया।
'द्' जोड़ भेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया॥

"जल" से "जलद" कहा, समझाया
भेद तुझे ऊँचे बैठाल।
दाएँ-बाएँ लगे रहे, जिससे
तुम भूलो जाती ख्याल॥
किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर
खिंची सदा माँ की तस्वीर।
क्षीण हुआ मुख, झलक रहा उन
नलिनी-नयनों से दुख-नीर॥
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख
उड़ाया पथ अम्बर।
पर तुम कूद पड़े, पहनाया
माँ को हरा वसन सुन्दर॥
धन्य तुम्हारे भक्ति-भाव को
दुःख सहे, डिगरी खोई।
ऊर्ध्वग जलद! बने निमग्न जल,
प्यारे प्रीति-बेलि बोई॥

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय-शृङ्ग, और मैं चञ्चल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त-कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसुकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरञ्जिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी॥
तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं इन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।

तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदु-गति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी युक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥

तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघु-कुल-गौरव-रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।

तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक, कल-कूजन तान।
तुम मदन पञ्चशर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान।

तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मै तडित्-तूलिका-रचना।

तुम रणताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद ओङ्कार सार, मैं कवि-श्रृङ्गार-शिरोमणि।

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

ॐ

२७

सुमित्रानन्दन पन्त

(वि० सं० १९५८–वर्तमान)

पं० सुमित्रानन्दन पंत का जन्म कौसानी जिला अल्मोड़ा में सं० १९५८ वि० में हुआ था। इन्होंने एफ० ए० में कालेज छोड़ दिया। ये संस्कृत, हिन्दी, बँगला और अँगरेजी अच्छी जानते हैं। कविता की रुचि इनमें स्वाभाविक है। छायावादी हिन्दी कविता में नये युग के प्रवर्तकों में इनका ऊँचा स्थान है। ये बहुत होनहार सुकवि हैं। इनकी भाषा खड़ी बोली है जो संस्कृतमय और सरस होती है।

इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—

उपन्यास—१ हार।

काव्य—१ उच्छ्वास; २ पल्लव; ३ वीणा; ४ ग्रन्थि; ५ गुञ्जन।

नौका-विहार

(१)

शान्त, स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भू-तल !
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल।
तापस-बाला-सी गंगा कल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल, सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिसपर, शशि की रेशमी-विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।

(२)

चाँदनी-रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेने सत्वर।
सिकता की सस्मित-सीपी पर, मोती की ज्योत्स्ना रही विचर ;
लो, पालें चढ़ीं, खुला लंगर।
मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर।

निश्चल-जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राज-भवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

(३)

नौका से उठतीं जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारादल,
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल।
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल,
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहले कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक्-मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक रुक।

(४)

अब पहुँची चपला बीच-धार
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों से दूरस्थ-तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।

अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल, लगती भ्रू-रेखा-सी अराल ,
अपलक-नभनील-नयन सुविशाल ।
माँ के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप ,
ऊर्मिल-प्रवाह को कर प्रतीप ।
वह कौन विहग ? क्या विकल-कोक, उड़ता हरने निज विरह-शोक,
छाया की कोकी को विलोक ?

(५)

पतवार घुमा, अब प्रतनु-भार
नौका घूमी विपरीत-धार ।
डाँड़ों के चल-करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार ,
बिखराती जल में तार-हार ।
चाँदी के साँपों-सी रलमल, नाचतीं रश्मियाँ जल में चल ,
रेखाओं-सी खिंच तरल-सरल ।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु झिलमिल ,
फैले फूले जल में फेनिल ।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह ,
हम बढ़े घाट को सोत्साह ।

(६)

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार ,
उर में आलोकित शत विचार ।

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर।
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
कृषक-बालिका के जलधर॥
जलाशयों में कमल-दलों-सा,
हमें खिलाता नित दिनकर।
पर बालक सा वायु सकल-दल
बिखरा देता, चुन सत्वर॥

लघु-लहरों के चल-पलनों में
हमें झुलाता जब सागर।
वही चील-सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर॥

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ-अङ्क।
हम फिर क्रीड़ा-कौतुक करते
छा अनन्त-उर में निःशंक॥

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते।
मत्त-मतंगज कभी झूमते
सजग-शशाक नभ को चरते॥

कभी अचानक भूतों का-सा
प्रकटा विकट महा-आकार।
कड़क कड़क जब हँसते हम सब
थर्रा उठता है संसार॥

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि-ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार॥

अनिल-विलोड़ित गगन-सिन्धु में
प्रलय-बाढ़-से चारों ओर।
उमड़-उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर घनघोर॥

दमयन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत-करों में फिर अभिराम।
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु-ध्वनि कर
कहते प्रिय-सन्देश ललाम॥

व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव-पल्लवित प्रभात।
बहते हम तब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तमके-से पात॥

उदयाचल से बालहंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात।
फैल स्वर्ण-पंखों-से हम भी
करते द्रुत मारुत से बात॥

धीरे-धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर।
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशिभोर॥

इन्द्रचाप-सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन-चिन्ता-से घोर।
घोष-भरे विप्लव-भय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर॥

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन पल में, साकार।
कालचक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार॥

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँधकर कभी अपार।
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही-से निस्सार॥

ॐ

ॐ

२८

गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब'

(वि० सं० १९५८—वर्त्तमान)

पं० गुलाबरत्न वाजपेयी का जन्म सुमेरपुर जिला उन्नाव में सं० १९५८ में हुआ था। ये बहुत छोटी अवस्था में ही सुन्दर कविताएँ रचने लगे थे। इनकी कविताएँ सरस, सुन्दर और भावपूर्ण होती हैं। इनका उपनाम 'गुलाब' है। आजकल ये कलकत्ते में रहते हैं। इनकी कविताओं ने अच्छा सम्मान पाया है। इनकी कविताओं का संग्रह 'लतिका' नाम से छपा है।

फूल

(१)

विकसित उपवन के शृंगार,
मुकुलित विश्व-विनोद-विहार।
मौन युगांतर का इतिहास;
क्यों लिखते भर मृदु उल्लास।

(२)

शरद्- वधू- सौंदर्य समेट;
चंद्र-किरण का हार लपेट।
श्यामल पल्लव से मुख ढाँक;
चुपके रहे किसे तुम झाँक?

(३)

मुक्तलता का चुंबन-दान,
पागल तुम्हें बनाता क्या न?
नर्तन-लहरी में उन्मत्त,
बहे जा रहे कहाँ प्रमत्त?

(४)

केलि कला उत्सव आनंद ;
मानस-मंदिर में स्वच्छंद ।
नाच रहे नटवर-से मौन ;
तुम्हें प्रसिद्ध बनाकर कौन ?

(५)

वसुंधरा के श्वेत नक्षत्र ;
धारण कर यश-गौरव-छत्र ।
मुदित लता-पत्रों को घेर ;
क्यों तुम रहे सुगंध बिखेर ?

(६)

उषा-सुंदरी अंचल छोर ;
फैला नभ अरण्य की ओर ।
तुम्हें बुलाती है उस पार ;
कर वसंत के साथ विहार ।

(७)

लघु विनोद में निपुण, निधान ;
ओस-बूँद बालिका अजान ।
त्याग विमल वल्लरी-कुटीर ;
नहलाती है तुम्हें अधीर ।

(८)

तव सौंदर्य-स्वरूप निहार ;
पिकी कूदकर बारंबार ।
मधुर मोद में उछल सुजान ;
मुग्ध खेलती है अनजान ।

(९)

पवन हिंडोले पर झुक, भूल ;
मुसुका मधुर मनोहर फूल ।
कोकिल-कलरव में चुपचाप ;
ठगे जा रहे क्यों तुम आप ?

(१०)

किसी विपिन बाला के पास ;
बनकर कर्णफूल स-हुलास ।
जाग्रत जीवन यौवन खोल ;
चूम रहे क्यों गोल कपोल ?

(११)

बैठ अलक आसन पर कौन ;
मुसकाते मन-ही-मन मौन ।
खिलकर शैल-शिखर पर मित्र ;
खींच रहे तुम किसका चित्र ?

(१२)

मालिन के दृग-द्वय उत्फुल्ल ;
तुम्हें ढूँढ़ते परम प्रफुल्ल ।
चकित प्रतीक्षा-पथ पर शांत ;
किसे बुलाते हो तुम कांत ।

(१३)

गंध-कणों के गेंद उछाल ;
संध्या को सुवर्ण-मद ढाल ।
द्रुम-सहस्र-शाखा पर मौन ;
झूम रहे तुम परिचित—कौन ?

(१४)

मधुसूदन ! तव चारों ओर ;
भृंग-प्रेमिकाएँ कर शोर ।
सोच विनोद-विहार-विलास ;
दौड़-दौड़ रचतीं नव रास ।

(१५)

मुरझाकर दो दिन के बाद ;
बरसाना वन में न विषाद ।
पाकर कवि यौवन उद्यान ;
रहना खिले प्रसून सुजान !

ॐ

२६

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

(वि० सं० १९५९—वर्त्तमान)

श्रीमोहनलाल महतो का जन्म ऊपरडीह (गया) में सं० १९५९ वि० में हुआ था। ये एक अच्छे कवि और चतुर चित्रकार हैं। कविता द्वारा मानव-जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण किया जा सकता है और चित्र-कारी द्वारा मनोभावों से प्रभावित आकृतियों का। सौभाग्य से इन दोनों कलाओं में 'वियोगी' जी सिद्धहस्त हैं। यह होनहार कवि हैं और बहुत गम्भीर तथा मधुरभाषी हैं।

इनके 'निर्माल्य' और 'एकतारा' काव्यों का जनता ने अच्छा सम्मान किया है।

आँसू

हे मेरी आँखों के आँसू! हे इस जीवन के इतिहास!
छलक पड़ो मत, रहो अन्त तक, उमड़े इस दुखिया के पास ॥
हे करुणा के चिह्न! अहो अभिलाषा की नीरव भाषा।
मत छलको, है टँगी हुई तुम पर ही मेरी शुभ आशा ॥
हृदय-वेदना के परिचायक! निराधार के हो आधार।
अन्तस्तल को धोनेवाले! हे मेरे सुमुक्त उद्गार ॥
हे मेरी असंख्य भूलों के मूर्तिमान सच्चे अनुताप!
शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप ॥
हे कितनी घटनाओं की स्मृति! हे मेरी आँखों की लाज!
क्या जानें क्या, तुम्हें छलकता देख कहेगा क्षुब्ध समाज ॥
कितने स्नेह, शोक के हो उपहार-तुल्य तुम मेरे पास।
बात बात में यों मत छलको, उठ जावेगा फिर विश्वास ॥
बल न उठे जिससे सहसा वह, बना रहे सुखदायक शांत।
रक्खा है प्रज्वलित प्रेम को, तुममें डुबा अहो उद्भ्रांत ॥
बार बार इस नीरस जग को, अपना रूप न दिखलाओ।
उषाकाल के तारागण से, इन नयनों में छिप जाओ ॥
हे मेरे इस जीवन भर की, कठिन कमाई! छिपे रहो।
आवश्यकता नहीं तुम्हारी आई भाई! छिपे रहो ॥

नहीं सफाई देने की बारी आई है छिपे रहो।
नहीं झलक अब तक प्रियतम ने दिखलाई है छिपे रहो ॥
योंही ढलक पड़ोगे तो मिट्टी में मिल जाओगे यार !
'लोचन जल रहु लोचन-कोना,' यही विनय है बारम्बार ॥

मन के पाँसे

खेल ले मन के पाँसे मीत !
वर्तमान भावी तो हारे अब है शेष अतीत ॥
कुसुमित ऋतुपति की गोदी में है सोने का पिंजरा ;
बैठ उसी में गाना हे खग ! मेरे सकरुण गीत ॥
इस पतझड़ में क्या सुषमा है, क्या है मुक्त-पवन में ?
वन से उड़कर रत्न-खचित सिखचों से कर ले प्रीत ॥
श्रम कर भोजन संग्रह करना उड़ना व्यर्थ गगन में।
तृण-निर्मित है नीड़ और व्याधों का दुस्सह भीत ॥
दृढ़ पिंजरा है, निर्भय रहना, अन्न-पूर्ण प्याले हैं ;
मन के हारे हार मानना, मन के जीते जीत।
खेल ले मन के पाँसे मीत !

दिवाकर के प्रति प्रदीप

दिवाकर ! लो अपना अधिकार।

पाकर प्रभा तुम्हारी मैं था बना महान्, उदार ॥

नन्हा-सा दीपक है, वत्ती चार तुनुक धागों की ;

बस, दो बूँद सनेह क्षणिक जीवन का था आधार ॥

हलका-सा झोंका उसाँस का मेरे लिए प्रलय था ;

फिर भी किया तुम्हारा करना प्रतिनिधित्व स्वीकार ॥

जला-जला अपने को कितनों का पथ सुगम बनाया ;

बना रहा तम सागर की नैया की मैं पतवार ॥

हुआ यही अपराध देव ! तुम तो अन्तर्यामी हो ;

हाय, जलाना पड़ा मुझे इन शलभों को लाचार ॥

दिवाकर ! लो अपना अधिकार।

३०

सुभद्रा कुमारी चौहान

(वि० सं० १९६१—वर्त्तमान)

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म प्रयाग में सं० १९६१ वि० में हुआ था। सं० १९७६ में इनका विवाह खँडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी. ए. एल-एल. बी. के साथ हुआ। इनका अध्ययन विवाह के पश्चात् भी जारी रहा। कलकत्ते की कांग्रेस के बाद असहयोग की लहर में इन्होंने स्कूल छोड़ दिया। उसी वर्ष इनके पति ने वकालत की परीक्षा पास करके वकालत शुरू करना चाहा था। परन्तु इनके आग्रह से उन्होंने भी वकालत करने का विचार छोड़ दिया और पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साथ "कर्मवीर" पत्र के संपादन और राष्ट्रीय कार्यों में समय लगाने लगे। सुभद्राकुमारी भी राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत उत्साह से काम करती रही हैं। जेल भी हो आई हैं। इनकी कविता बहुत सरल और भावमय होती है। ये खड़ी बोली में कविता करती हैं। भाषा में कुछ प्रचलित उर्दू शब्द प्रयोग में आ जाते हैं; तब भी भाषा परिमार्जित और सरस होती है। सं० १९८८ और १९८९ में ये सेकसरिया-महिला-पुरस्कार द्वारा सम्मानित हो चुकी हैं। यह पुरस्कार सर्व-श्रेष्ट महिला लेखिका को दिया जाता है। वर्त्तमान स्त्री-कवियों में इनका स्थान सब से ऊँचा है। ये अब गल्प भी लिखने लगी हैं।

इनकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' नाम से छपा है। 'बिखरे मोती' गल्प-संग्रह है।

मातृ-भाषा

वीणा बज सी पड़ी खुल गये नेत्र और कुछ आया ध्यान।
मुड़ने की थी देर, दिख पड़ा उत्सव का प्यारा सामान॥
जिसको तुतला-तुतला करके शुरू किया था पहली बार।
जिस प्यारी भाषा में हमको प्राप्त हुआ है माँ का प्यार॥
उस हिन्दूजन की गर्वीली हिन्दी—प्यारी हिन्दी का।
प्यारे भारतवर्ष-कृष्ण की उस वाणी कालिन्दी का॥
है उसका ही समारोह यह, उसका ही उत्सव प्यारा।
मैं आश्चर्य-भरी आँखों से देख रही हूँ यह सारा॥
जिस प्रकार कंगाल बालिका अपनी माँ धन-हीना को।
टुकड़ों की मुहताज आज तक दुखिनी को, उस दीना को॥
सुन्दर वस्त्राभूषण-सज्जित देख चकित हो जाती है।
सच है या केवल सपना है, कहती है, रुक जाती है॥
पर सुन्दर लगती है, इच्छा यह होती है कर ले प्यार।
प्यारे चरणों पर बलि जाए, कर ले मन भर के मनुहार॥
इच्छा प्रबल हुई, माता के पास दौड़कर जाती है।
वस्त्रों को सँवारती, उसको आभूषण पहनाती है॥
इसी भाँति आश्चर्य मोद-मय आज मुझे झिझकाता है।
मन में उमड़ा हुआ भाव बस मुँह तक आ रुक जाता है॥

प्रेमोन्मत्ता होकर तेरे पास दौड़ जाती हूँ मैं।
तुझे सजाने या सँवारने में ही सुख पाती हूँ मैं॥
तेरी इस महानता में क्या होगा मूल्य लजाने का।
तेरी भव्य मूर्ति को नकली आभूषण पहनाने का॥
किन्तु हुआ क्या माता ! मैं भी तो हूँ तेरी ही सन्तान।
इसमें ही सन्तोष मुझे है, इसमें ही आनन्द महान॥
मुझ सी एक-एक की बन तू तीस कोटि की आज हुई।
हुई महान सभी भाषाओं की तू ही सिरताज हुई॥
मेरे लिए बड़े गौरव की और गर्व की है यह बात।
तेरे द्वारा ही होवेगा भारत में स्वातन्त्र्य प्रभात॥
अपने व्रत पर मर मिट जाना यह जीवन तेरा होगा।
जगती के वीरों द्वारा शुभ पद-वन्दन तेरा होगा॥
तू होगी सुख-सार देश के बिछुड़े हृदय मिलाने में।
तू होगी अधिकार देश-भर को स्वातन्त्र्य दिलाने में॥

उनका जाना

आह ! चले ही जायेंगे क्या सचमुच मुझे अकेली छोड़ ?
विमल प्रेम के इन कोमल पौधों को निष्ठुरता से तोड़ ॥
जायेंगे ? यह कैसे होगा ! उन्हें नहीं जाने दूँगी ।
रुको निराशे ! तुम्हें न अपने मन में मैं आने दूँगी ॥
उन्हें रोकने की आशा का दीप जलाए बैठी हूँ ।
बाधा के स्वरूप पथ पर ये नेत्र बिछाये बैठी हूँ ॥
लोक-लाज, कुल-मान-प्रतिष्ठा सभी भुलाये बैठी हूँ ।
कैसे जावेंगे ? प्राणों की होड़ लगाए बैठी हूँ ॥
देख सकेंगी क्या ये आँखें, चुप हो कर उनका जाना ।
उगते ही उगते रवि का काले बादल में छिप जाना ॥
खिलने से पहले ही कोमल कलित कली का मुरझाना ।
आह ! रोक लो, सह न सकूँगी इस प्रकार उनका जाना ॥

हिन्दी
दासबोध